

## Chapter एक

### ईश अनुभूति का प्रथम सोपान

#### ईश-स्तवन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ॐ—हे भगवन्; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण को।  
हे सर्वव्यापी भगवन्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

**तात्पर्य :** वासुदेवाय का अर्थ है 'वासुदेव के पुत्र कृष्ण को'। चूँकि वासुदेव कृष्ण के नाम-कीर्तन से मनुष्य दान तथा तप के सारे शुभ फल प्राप्त कर सकता है, अतएव ॐ नमो भगवते वासुदेवाय नामक इस मंत्र के कीर्तन से श्रीमद्भागवत का रचयिता, वक्ता या कोई पाठक आनन्द स्वरूप परमेश्वर कृष्ण को सादर नमस्कार करता है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में सृष्टि के नियमों का वर्णन है, अतएव प्रथम स्कंध को 'सृष्टि' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार द्वितीय स्कंध में 'सृष्टि का परवर्ती दृश्य जगत' वर्णित है। इस स्कंध में विभिन्न लोकों का वर्णन, भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न भागों के रूप में किया गया है। इस कारण से, इस द्वितीय स्कंध को 'दृश्य जगत' कहा जा सकता है। द्वितीय स्कंध में दस अध्याय हैं और इन दस अध्यायों में श्रीमद्भागवत का ध्येय एवं ध्येय के विभिन्न लक्षणों का वृत्तान्त है। पहले अध्याय में कीर्तन की महिमा का वर्णन है और यह ऐसी विधि का संकेत करता है, जिससे नवदीक्षित भक्त भगवान् के विश्वरूप का ध्यान कर सकता है। इसके प्रथम श्लोक में शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित के उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं जिनमें उन्होंने एक मरणासन्न मनुष्य के कर्तव्य के बारे में पूछा था। महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी का स्वागत करते हुए हर्ष हो रहा था और उन्हें गर्व था कि वे कृष्ण के अन्तरंग सखा 'अर्जुन' के वंशज हैं। वे व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त विनीत एवं सौम्य थे, लेकिन उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की कि कृष्ण उसके पितामहों, पाण्डु के पुत्रों पर, एवं विशेष रूप से उनके पितामह अर्जुन पर अत्यधिक प्रसन्न थे। चूँकि भगवान् कृष्ण महाराज परीक्षित के परिवार से

सदैव प्रसन्न रहते थे, अतएव महाराज परीक्षित के मरणासन्न होने पर, आत्म-साक्षात्कार की विधि में सहायता पहुँचाने के लिए, शुकदेव गोस्वामी को भेजा गया था। महाराज परीक्षित अपने बाल्यकाल से भगवान् कृष्ण के भक्त थे, अतएव उनका कृष्ण के प्रति सहज स्नेह था। शुकदेव गोस्वामी इस निष्ठा को जानते थे, अतएव उन्होंने राजा के कर्तव्य के विषय में प्रश्नों का स्वागत किया। चूँकि राजा ने यह संकेत किया था कि प्रत्येक जीव का चरम कर्तव्य भगवान् कृष्ण की सेवा करना है, अतएव शुकदेव गोस्वामी ने इस सुझाव का स्वागत करते हुए कहा “चूँकि आपने कृष्ण विषयक प्रश्न पूछे हैं, अतएव आपका प्रश्न अत्यन्त महिमामय है।” प्रथम श्लोक का अनुवाद इस प्रकार है।

श्री-शुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोक-हितं नृप ।

आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; वरीयान्—महिमायुक्त; एषः—यह; ते—तुम्हारा; प्रश्नः—प्रश्न, सवाल; कृतः—तुम्हारे द्वारा किया गया; लोक-हितम्—सभी मनुष्यों के लिए लाभप्रद; नृप—हे राजा; आत्मवित्—अध्यात्मवादी, योगी; सम्मतः—स्वीकृत; पुंसाम्—सभी पुरुषों का; श्रोतव्य-आदिषु—सभी प्रकार के श्रवण में; यः—जो है; परः—परम, सर्वश्रेष्ठ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, आपका प्रश्न महिमामय है, क्योंकि यह समस्त प्रकार के लोगों के लिए बहुत लाभप्रद है। इस प्रश्न का उत्तर श्रवण करने का प्रमुख विषय है और समस्त अध्यात्मवादियों ने इसको स्वीकार किया है।

तात्पर्य : यह प्रश्न स्वयंही इतना उत्तम है कि यह श्रवण करने (सुनने) का सर्वश्रेष्ठ विषय है। ऐसा प्रश्न करने तथा श्रवण करने मात्र से मनुष्य को सर्वोच्च जीवन-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। चूँकि भगवान् कृष्ण आदि परम पुरुष हैं, अतएव उनके विषय में कोई भी प्रश्न मौलिक तथा पूर्ण है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जीवन की चरम सिद्धि कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त करना है। चूँकि कृष्ण विषयक प्रश्नोत्तर मनुष्य को दिव्य पद प्रदान करनेवाले हैं, अतएव कृष्णदर्शन के विषय में महाराज परीक्षित के प्रश्न अत्यन्त महिमामय हैं। महाराज परीक्षित अपने मन को पूर्ण रूप से कृष्ण में लीन करना चाहते थे और यह कृष्ण के असामान्य कार्यकलापों के श्रवणमात्र से ही सम्भव है। उदाहरणार्थ, भगवद्गीता में कहा गया है कि कृष्ण के आविर्भाव, तिरोधान तथा उनकी लीलाओं की

दिव्य प्रकृति को समझ लेने मात्र से ही मनुष्य तुरन्त भगवद्धाम को वापस जा सकता है और इस दुखमय भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटता। अतएव सदा ही कृष्ण के विषय में श्रवण करना बहुत शुभ होता है। महाराज परीक्षित ने इसीलिए शुकेदव गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे कृष्ण के कार्यकलापों का वर्णन करें जिससे वे अपना मन कृष्ण में प्रवृत्त कर सकें। कृष्ण के कार्यकलाप साक्षात् कृष्ण से अभिन्न हैं। जब तक मनुष्य कृष्ण के ऐसे दिव्य कार्यकलापों को सुनने में मग्न रहता है तब तक वह इस जगत के बद्ध जीवन से विलग रहता है। कृष्ण की कथाएँ इतनी मंगलमय हैं कि वे वक्ता, श्रोता तथा जिज्ञासु को परि-शुद्ध बना देती हैं। उनकी तुलना उस गंगाजल से की जाती है, जो भगवान् कृष्ण के अँगूठे से निकलता है। गंगा का जल जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ की भूमि तथा उसमें स्नान करनेवाले व्यक्ति शुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार कृष्ण कथाएँ इतनी शुद्ध हैं कि जहाँ भी इनका कथन होता है, वह स्थान, उनके श्रोता, जिज्ञासु, वक्ता तथा अन्य सारे सम्बद्ध लोग परि-शुद्ध हो जाते हैं।

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।

अपश्यतामात्म-तत्त्वं गृहेषु गृह-मेधिनाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्रोतव्य-आदीनि—श्रवण योग्य विषयों में; राजेन्द्र—हे सम्राट; नृणाम्—मानव समाज का; सन्ति—हैं; सहस्रशः—सैकड़ों तथा हजारों; अपश्यताम्—अंधे का; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-ज्ञान, परम सत्य; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनाम्—भौतिकता में फँसे व्यक्तियों का।

हे सम्राट, भौतिकता में उलझे उन व्यक्तियों के पास जो परम सत्य विषयक ज्ञान के प्रति अंधे हैं, मानव समाज में सुनने के लिए अनेक विषय होते हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों में पारिवारिक जीवन के लिए दो नाम हैं—एक गृहस्थ और दूसरा गृहमेधी। गृहस्थ वे हैं, जो अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ-साथ रहते हैं, लेकिन परम सत्य की अनुभूति के लिए आध्यात्मिक जीवन बिताते हैं। किन्तु गृहमेधी वे हैं, जो केवल पारिवारिक सदस्यों के लाभ के लिए जीवित रहते हैं, चाहे संयुक्त परिवार में रहें या छोटे परिवार में रहें और वे अन्यो से ईर्ष्या करते हैं। मेधी शब्द अन्यो से ईर्ष्या का सूचक है। गृहमेधी केवल पारिवारिक मामलों में रुचि रखने के कारण, निश्चित रूप से, अन्यो के प्रति ईर्ष्यालु रहते हैं। अतएव एक गृहमेधी का दूसरे गृहमेधी से अच्छा सम्बन्ध नहीं रहता और व्यापक रूप में एक जाति, समाज या राष्ट्र स्वार्थी रुचि के कारण अन्य

जाति, समाज या राष्ट्र से अच्छे सम्बन्ध नहीं रखते। इस कलियुग में सारे गृहस्थ एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अन्धे हैं। उनके पास सुनने के लिए अनेक प्रकार के विषय हैं यथा राजनीतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक आदि लेकिन अल्पज्ञान के कारण वे जीवन के घोर कष्टों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों की परवाह नहीं करते। वास्तव में मनुष्य जीवन तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का अन्तिम हल खोज निकालने के लिए है, लेकिन भौतिक प्रकृति के द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण गृहमेधी आत्म-साक्षात्कार के विषय में सब कुछ भूल जाते हैं। जीवन की समस्याओं का अन्तिम हल तो भगवद्धाम को वापस जाना है और जैसाकि भगवद्गीता (८.१६) में कहा गया है, वहाँ जगत के सारे क्लेश यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि दूर हो जाते हैं।

भगवद्धाम वापस जाने की विधि है भगवान् तथा उनके नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-सामान तथा विविधता के विषय में श्रवण करना। मूर्ख लोग इसे नहीं जानते। वे तो प्रत्येक नाशवान वस्तु के नाम, रूप आदि के विषय में कुछ न कुछ सुनना चाहते हैं और वे यह नहीं जानते कि सुनने की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग परम कल्याण के लिए किस तरह किया जाय। वे भ्रान्त तो रहते ही हैं, अतएव वे परम सत्य के नाम, रूप, गुणों आदि के विषयों में कुछ मिथ्या-साहित्य भी तैयार कर लेते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह केवल अन्यो से ईर्ष्या करने के लिए गृहमेधी न बने; उसे शास्त्रों के आदेशानुसार असली गृहस्थ बनना चाहिए।

निद्रया ह्यियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।

दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्ब-भरणेन वा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निद्रया—सो करके; ह्यियते—नष्ट करते हैं; नक्तम्—रात्रि; व्यवायेन—मैथुन में; च—भी; वा—या तो; वयः—जीवन-अवधि, आयु; दिवा—दिन; च—भी; अर्थ—आर्थिक; ईहया—विकास; राजन्—हे राजा; कुटुम्ब—पारिवारिक सदस्यों के; भरणेन—पालन करने में; वा—अथवा।

ऐसे ईर्ष्यालु गृहस्थ ( गृहमेधी ) का जीवन रात्रि में या तो सोने या मैथुन में रत रहने तथा दिन में धन कमाने या परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण में बीतता है।

तात्पर्य : वर्तमान मानव सभ्यता, मुख्यतः रात्रि में सोने तथा मैथुन करने और दिन में धन कमाने और उसे परिवार के भरण-पोषण हेतु खर्च करने के सिद्धान्तों पर आधारित है। इस तरह की मानव

सभ्यता *भागवत* विचारधारा द्वारा निन्दित है।

चूँकि मानव जीवन भौतिक पदार्थ तथा आत्मा का संमेल है, अतएव वैदिक ज्ञान की पूरी प्रक्रिया आत्मा को पदार्थ के संदूषण से मुक्त करने की दिशा में प्रेरित रहती है। इससे सम्बन्धित ज्ञान *आत्म-तत्त्व* कहलाता है। जो लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हैं, वे इस ज्ञान से अनजान रहते हैं और भौतिक भोग के लिए आर्थिक विकास के प्रति अधिक उन्मुख होते हैं। ऐसे भौतिकतावादी लोग *कर्मी* कहलाते हैं और उन्हें नियमित आर्थिक विकास या यौनाचार के लिए स्त्री-संगति की छूट रहती है। जो लोग *कर्मियों* से ऊपर हैं—यथा *ज्ञानी*, *योगी* तथा *भक्त*, उन्हें यौनाचार सर्वथा वर्जित है। *कर्मी* लोग *आत्म-तत्त्व* से बहुत कुछ विहीन होते हैं और इस तरह उनका जीवन बिना किसी आध्यात्मिक लाभ के बीत जाता है। यह मनुष्य-जीवन, न तो आर्थिक विकास के लिए कठिन श्रम करने के निमित्त है, न शूकरों-कूकरों की भाँति मैथुन में रत रहने के लिए है। यह तो भौतिक जीवन की समस्याओं तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न कष्टों का हल ढूँढ़ने के लिए है। इस तरह *कर्मीजन* रात्रि को सोकर तथा मैथुन में रत रहकर और दिन को सम्पत्ति-संग्रह करने के लिए कठिन श्रम करके बिता देते हैं। ऐसा करके वे भौतिकतावादी जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर भौतिकतावादी जीवन का सारांश-रूप में वर्णन हुआ है और अगले श्लोक में बताया गया है कि किस तरह लोग मनुष्य-जीवन के वरदान को मूर्खतापूर्वक नष्ट करते हैं।

देहापत्य-कलत्रादिष्व्वात्म-सैन्येष्वसत्स्वपि ।

तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; अपत्य—बच्चे; कलत्र—पत्नी; आदिषु—तथा अन्य सारे सम्बन्धों में; आत्म—निजी; सैन्येषु—सिपाहियों में; असत्सु—पतनशील; अपि—के बावजूद; तेषाम्—उन सबों का; प्रमत्तः—अत्यधिक आसक्त; निधनम्—विनाश; पश्यन्—अनुभव करके; अपि—यद्यपि; न—नहीं; पश्यति—देखते हैं।

आत्मतत्त्व से विहीन व्यक्ति जीवन की समस्याओं के विषय में जिज्ञासा नहीं करते, क्योंकि वे शरीर, बच्चे तथा पत्नी रूपी विनाशोन्मुख सैनिकों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। पर्याप्त अनुभवी होने के बावजूद भी वे अपने अवश्यंभावी मृत्यु को नहीं देख पाते।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत मर्त्यलोक कहलाता है। जिनकी आयु लाखों वर्ष होती है, उस ब्रह्म से

लेकर कुछ ही पलों तक जीवित रहने वाले जीवाणुओं तक, ये सब जीवन-संघर्ष कर रहे हैं। इस तरह यह जीवन एक प्रकार से भौतिक प्रकृति के साथ युद्ध की तरह है, जिसमें सबकी मृत्यु होनी है। मानव योनि में, जीव इस विकट संघर्ष को समझने में सक्षम होता है, लेकिन परिजनों, समाज, देश इत्यादि के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने से वह अपनी शारीरिक शक्ति, बच्चे, पत्नी, सम्बन्धीजनों इत्यादि की सहायता से दुर्जेय भौतिक प्रकृति पर विजय पाना चाहता है। यद्यपि वह अपने विगत अनुभवों तथा पूर्ववर्ती दिवंगत वंशजों के उदाहरणों से अत्यधिक अनुभवी बन जाता है, तो भी वह यह नहीं देख पाता कि तथाकथित लड़ने वाले सैनिक, अर्थात् बच्चे, परिजन, समाज के सदस्य तथा देशवासी इस महान् संघर्ष में सभी विनाशशील हैं। मनुष्य को इस तथ्य की छान-बीन कर लेनी चाहिए कि उसका पिता या पिता का पिता पहले ही दिवंगत हो चुका है। अतएव उसकी भी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसी प्रकार उसके बच्चे भी, जो अपने बच्चों के पिता होंगे, यथासमय मर जायेंगे। भौतिक प्रकृति के साथ इस संघर्ष में कोई भी नहीं बचेगा। मानव समाज का इतिहास इसे पूर्णतः सिद्ध करता है; फिर भी मूर्ख लोग सुझाव रखते हैं कि वे भौतिक विज्ञान की सहायता से भविष्य में अनन्त काल तक जीवित रह सकेंगे। मानव समाज द्वारा प्रदर्शित ऐसा अल्पज्ञान निश्चय ही भ्रामक है और यह सब आत्मा के स्वरूप की अवहेलना करने के कारण है। इस भौतिक जगत का अस्तित्व स्वप्नतुल्य है, जो इसके प्रति हमारी आसक्ति के कारण है। अन्यथा जीवात्मा तो सदा ही भौतिक प्रकृति से भिन्न है। प्रकृति का महासागर समय की तरंगों से आन्दोलित हो रहा है और तथाकथित जीवित अवस्थाएँ फेन के बुदबुदों के सदृश हैं, जो हमारे समक्ष स्वशरीर, पत्नी, बच्चे, समाज, देश इत्यादि के रूप में प्रकट होती हैं। आत्मा के ज्ञान (*आत्मतत्त्व*) के अभाव में हम अज्ञान की शक्ति के शिकार बनते हैं और इस तरह जीवन की स्थायी परिस्थितियों की व्यर्थ खोज के पीछे मूल्यवान मानवी शक्ति बर्बाद करते हैं, जो इस जगत में असम्भव है।

हमारे मित्र, कुटुम्बी और तथाकथित पत्नी एवं बच्चे न केवल विनाशशील हैं, अपितु जगत की बाह्य चकाचौंध से मोहग्रस्त भी हैं। अतएव वे हमें बचा नहीं सकते। फिर भी हम सोचते हैं कि हम परिवार, समाज या देश के घेरे में सुरक्षित हैं।

मानव सभ्यता का सम्पूर्ण भौतिकतावादी विकास शव की सजावट जैसा है। प्रत्येक व्यक्ति शव तुल्य है, जो कुछ दिनों तक अपने पंख फड़फड़ाता है; फिर भी मनुष्य की सारी शक्ति इस शव को अलंकृत करने में व्यर्थ जाती है। शुकदेव गोस्वामी मोहग्रस्त मानवीय कार्यकलापों की वास्तविक स्थिति का दर्शन कराकर, मनुष्य के कर्तव्य की ओर संकेत कर रहे हैं। जो लोग *आत्मतत्त्व* के ज्ञान से विहीन हैं, वे दिग्भ्रमित हैं, लेकिन जो भगवद्भक्त हैं और जिन्हें दिव्य ज्ञान की पूर्ण अनुभूति है, वे मोहग्रस्त नहीं होते।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भारत—हे भरतवंशी; सर्वात्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—नियामक; हरिः—भगवान्, जो सारे कष्टों को हरनेवाले हैं; श्रोतव्यः—श्रवणीय है; कीर्तितव्यः—महिमागायन के योग्य; च—भी; स्मर्तव्यः—स्मरणीय; च—तथा; इच्छता—इच्छा करनेवाले की; अभयम्—स्वतन्त्रता।

हे भरतवंशी, जो समस्त कष्टों से मुक्त होने का इच्छुक है उसे उन भगवान् का श्रवण, महिमा-गायन तथा स्मरण करना चाहिए जो परमात्मा, नियंता तथा समस्त कष्टों से रक्षा करने वाले हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में श्री शुकदेव गोस्वामी ने यह बताया कि किस प्रकार मूर्ख एवं भौतिकतावादी व्यक्ति सोकर, विषयी जीवन में लिप्त रहकर, आर्थिक दशा सुधारने तथा उन कुटुम्बियों के भरण-पोषण में, जो विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाने वाले हैं, अपने मूल्यवान समय का अपव्यय करते हैं। इन भौतिकतावादी कार्यकलापों में संलग्न रहने के कारण जीवात्मा सकाम कर्म के चक्र में अपने को उलझा देता है। यह चक्र चौरासी लाख योनियों में—जलचर, वनस्पतियाँ, सरीसृप, पक्षी, पशु, असभ्य मानव तथा उसके बाद फिर से मनुष्य रूप में—जन्म-मृत्यु का चक्र है और यही सकाम कर्म के चक्र से छूटने का सुअवसर है। अतः यदि कोई इस विषाक्त चक्र से मुक्ति चाहता है, तो उसे *कर्मी* नहीं बनना चाहिए, अर्थात् अपने ही अच्छे या बुरे कर्म के फल का भोक्ता नहीं बनना चाहिए। उसे अपने लिये अच्छा या बुरा कोई कर्म नहीं करना चाहिए, अपितु हर वस्तु को सर्वोच्च स्वामी परमेश्वर के निमित्त करना चाहिए। कर्म करने की यह विधि *भगवद्गीता* (९.२७) में भी संस्तुत

है, जिसमें भगवान् के निमित्त कर्म करने के लिए आदेश है। अतएव सर्वप्रथम मनुष्य को भगवान् के विषय में श्रवण करना चाहिए। पूरी तरह छानबीन करके श्रवण कर लेने के बाद, उसे भगवान् के कार्यकलापों का महिमा-गायन करना चाहिए। इस तरह वह निरन्तर भगवान् के दिव्य स्वभाव का स्मरण कर सकेगा। भगवान् का श्रवण तथा महिमा-गायन भगवान् के दिव्य स्वभाव से अभिन्न है और इस तरह करने पर मनुष्य सदैव भगवान् के सान्निध्य में रहेगा। इससे सभी प्रकार के भय से मुक्ति मिल जाती है। भगवान् परमात्मा हैं, जो प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं। इस प्रकार उपर्युक्त श्रवण तथा महिमा-गायन की विधि से भगवान् समग्र सृष्टि को अपनी संगति करने का आमन्त्रण देते हैं। भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन की यह विधि सब पर लागू होती है, चाहे वह जो भी हो और इससे उसे प्रत्येक कार्य में परम सफलता प्राप्त होगी। मनुष्यों की कई श्रेणियाँ हैं—*कर्मी, ज्ञानी, योगी* तथा अनन्य भक्त। इन सब पर इच्छित सफलता प्राप्त करने के लिए यही विधि लागू होती है। प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार के भय से मुक्त होना चाहता है और सर्वाधिक सुख भोगना चाहता है। इसे प्राप्त करने की सम्यक् विधि की संस्तुति यहाँ *श्रीमद्भागवत* में की गई है, जो श्री शुकदेव गोस्वामी-जैसे महान् अधिकारी द्वारा कथित है। भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन से मनुष्य के सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक बन जाते हैं और इस तरह से भौतिक दुखों की सारी अव-धारणाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।

**एतावान् साङ्ख्य-योगाभ्यां स्व-धर्म-परिनिष्ठया ।**

**जन्म-लाभः परः पुंसामन्ते नारायण-स्मृतिः ॥ ६ ॥**

**शब्दार्थ**

एतावान्—ये सब; साङ्ख्य—पदार्थ तथा आत्मा विषयक पूर्ण ज्ञान; योगाभ्याम्—योगशक्ति के ज्ञान से; स्व-धर्म—विशिष्ट वृत्तिपरक कर्तव्य; परिनिष्ठया—पूर्ण अनुभूति के द्वारा; जन्म—जन्म; लाभः—लाभ; परः—परम; पुंसाम्—पुरुष का; अन्ते—अन्त में; नारायण—भगवान् की; स्मृतिः—स्मृति, याद।

पदार्थ तथा आत्मा के पूर्ण ज्ञान से, योगशक्ति से या स्वधर्म का भलीभाँति पालन करने से मानव जीवन की जो सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, वह है जीवन के अन्त में भगवान् का स्मरण करना।

**तात्पर्य :** नारायण इस भौतिक सृष्टि से परे परम पुरुष हैं। प्रत्येक वस्तु जिसका सृजन, पालन तथा



अन्त में संहार होता है, वह महत् तत्त्व की सीमा के अन्तर्गत है और भौतिक जगत के नाम से विख्यात है, किन्तु नारायण या भगवान् का अस्तित्व इस महत् तत्त्व की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता, अतएव नारायण के नाम, रूप, गुण आदि भौतिक जगत की सीमा के परे हैं। मनुष्य को सांख्य दर्शन से, जो पदार्थ तथा आत्मा को पृथक्-पृथक् करता है, अथवा योगशक्ति के अनुशीलन से, जिससे मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर के किसी लोक तक पहुँचने में समर्थ बनता है या धार्मिक कृत्य करने से, सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है बशर्ते कि मनुष्य नारायण-स्मृति अवस्था को अर्थात् भगवान् के निरन्तर स्मरण की अवस्था को प्राप्त कर ले। यह शुद्ध भक्त की संगति से ही सम्भव है, क्योंकि भक्त समस्त ज्ञानियों, योगियों या कर्मियों के दिव्य कार्यकलापों को शास्त्रानुमोदित वृत्तिपरक कार्यों से साज-सँवार सकता है। इतिहास आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के उदाहरणों से भरा पड़ा है यथा सनकादि ऋषि या नौ प्रसिद्ध योगेन्द्र जिन्होंने भगवान् की भक्ति से ही सिद्धि प्राप्त की। भगवान् का कोई भी भक्त ज्ञानियों या योगियों द्वारा अपनाई गई अन्य विधियों को ग्रहण करके भक्ति के मार्ग से कभी विचलित नहीं हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-विशेष में चरम सिद्धि के लिए उत्सुक रहता है और जैसाकि यहाँ पर संकेत किया गया है कि ऐसी सिद्धि नारायण-स्मृति है, जिसके लिए हर एक को उत्तमोत्तम प्रयास करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि जीवन के पग-पग पर मनुष्य भगवान् के स्मरण में आगे-आगे ही बढ़ता रहे।

**प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधि-षेधतः ।**

**नैर्गुण्य-स्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७ ॥**

**शब्दार्थ**

प्रायेण—मुख्यतया; मुनयः—सारे मुनि; राजन्—हे राजा; निवृत्ताः—ऊपर उठे हुए, निवृत्त; विधि—विधि-विधान; षेधतः—प्रतिबन्धों से; नैर्गुण्य-स्थाः—आध्यात्मिक रूप से स्थित; रमन्ते—आनन्द लेते हैं; स्म—प्रकट रूप से; गुण-अनुकथने—महिमा का वर्णन करते हुए; हरेः—भगवान् की।

हे राजा परीक्षित, मुख्यतया सर्वोच्च अध्यात्मवादी, जो विधि-विधानों एवं प्रतिबन्धों से ऊपर हैं, भगवान् का गुणगान करने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

**तात्पर्य :** सर्वोच्च अध्यात्मवादी मुक्त जीव होता है, अतएव वह विधि-विधानों की सीमा में नहीं आता। ऐसा नवदीक्षित, जो आध्यात्मिक स्तर तक उठने का इच्छुक है, विधि-विधानों के अन्तर्गत गुरु

द्वारा मार्गदर्शित होता है। उसकी तुलना ऐसे रोगी से की जा सकती है, जिसका उपचार चिकित्सा की परिधि के अन्तर्गत, विविध प्रतिबन्धों के अन्तर्गत किया जाता है। सामान्यतया मुक्तात्माएँ भी दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने में आनन्द लेती हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, चूँकि नारायण, हरि या भगवान् भौतिक सृष्टि के परे हैं, अतः उनके रूप तथा गुण भौतिक नहीं हैं। सर्वोच्च अध्यात्मवादी या मुक्त जीव अपने दिव्य ज्ञान के उन्नत अनुभव द्वारा उनकी अनुभूति करते हैं। अतएव वे भगवान् की लीलाओं के दिव्य गुणों के कथन में रुचि लेते हैं। *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् घोषित करते हैं कि उनका प्राकट्य तथा उनके कार्यकलाप सभी *दिव्यम्* अर्थात् दिव्य हैं। सामान्य व्यक्ति, माया के वशीभूत होने के कारण, यह मान लेता है कि भगवान् भी हमारी ही तरह के हैं, अतएव वह भगवान् के नाम, रूप आदि की दिव्य प्रकृति को मानने से इनकार करता है। सर्वोच्च अध्यात्मवादी किसी भी भौतिक वस्तु में रुचि नहीं रखता, अतएव भगवान् के कार्यकलापों के प्रति रुचि रखना इसका निश्चित प्रमाण है कि भगवान् इस भौतिक जगत में हम जैसे नहीं हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर एक हैं, किन्तु वे अपने अनन्य भक्तों के साथ अपनी दिव्य लीलाओं में लगे रहते हैं और उसी के साथ-साथ, बलदेव के अंश रूप में, परमात्मा की तरह, सभी जीवों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। अतएव दिव्य अनुभूति की चरम सिद्धि भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण तथा अनुकथन में है, न कि निर्विशेषवादी द्वारा काम्य, भगवान् के निराकार ब्रह्म रूप में तदाकार होने में। वास्तविक दिव्य आनन्द तो दिव्य भगवान् के महिमा-गायन में है, उनके निर्विशेष स्वरूप में स्थित होने की अनुभूति में नहीं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सर्वोच्च अध्यात्मवादी न होकर उनसे घटकर हैं और जो भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वर्णन में रुचि नहीं दिखाते प्रत्युत वे भगवान् के ऐसे कार्यकलापों की व्याख्या भगवान् में तदाकार होने के उद्देश्य से करते हैं।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म-सम्मितम् ।

अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; नाम—नाम वाला; पुराणम्—वैदिक अनुपूरक, पुराण; ब्रह्म-सम्मितम्—वेदों के सार स्वरूप स्वीकृत; अधीतवान्—अध्ययन किया; द्वापर-आदौ—द्वापर युग के अन्त में; पितुः—अपने पिता से; द्वैपायनात्—द्वैपायन व्यासदेव से; अहम्—मैंने स्वयं।

द्वार युग के अन्त में अपने पिता श्रील द्वैपायन व्यासदेव से मैंने श्रीमद्भागवत नाम के इस महान् वैदिक साहित्य के अनुपूरक ग्रंथ का अध्ययन किया, जो समस्त वेदों के तुल्य है।

**तात्पर्य :** श्रील शुकदेव गोस्वामी के इस कथन की उनके ही निजी उदाहरण से पुष्टि होती है कि सर्वोच्च अध्यात्मवादी ही, जो विधि-विधानों की परिधि से परे होता है, भगवान् के श्रवण तथा महिमा-गायन का आश्रय लेता है। सर्वमान्य मुक्तात्मा तथा सर्वोच्च अध्यात्मवादी होने के कारण, शुकदेव गोस्वामी को महाराज परीक्षित के अन्तिम सात दिनों में उस सभा में उपस्थित समस्त सर्वोच्च मुनियों द्वारा मान्यता दी गई। वे अपने जीवन से उदाहरण देते हैं कि वे स्वयं भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने अपने महान् पिता, श्रीद्वैपायन व्यासदेव, से *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन किया। *श्रीमद्भागवत* या किसी अन्य वैज्ञानिक साहित्य को अपनी बुद्धि के बल पर घर पर नहीं पढ़ा जा सकता। यद्यपि शरीर रचना या शरीर क्रिया सम्बन्धी चिकित्सा-ग्रन्थ बाजार में उपलब्ध रहते हैं, किन्तु इन पुस्तकों को घर में पढ़कर कोई योग्य चिकित्सक नहीं बन सकता। उसे चिकित्सा विद्यालय में प्रवेश ले करके, विद्वान प्राचार्यों के पथ-प्रदर्शन में पुस्तकों का अध्ययन करना होता है। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवत*, जो भगवद्विज्ञान का स्नातकोत्तर अध्ययन है, उसे श्रील व्यासदेव जैसे सिद्ध पुरुष के चरणों में बैठकर ही सीखा जा सकता है। यद्यपि शुकदेव गोस्वामी जन्मजात मुक्तात्मा थे, किन्तु उन्हें भी अपने महान् पिता व्यासदेव से *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करना पड़ा, जिन्होंने इसका संकलन एक अन्य महात्मा, श्रीनारद मुनि, के आदेश पर किया था। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक विद्वान ब्राह्मण को व्यक्ति *भागवत* से *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करने के लिए आदेश दिया। *श्रीमद्भागवत* परम पुरुष के दिव्य नाम, रूप, गुणों, लीलाओं, पार्षद तथा विविधताओं पर आधारित है और भगवान् के अवतार, श्रील व्यासदेव, द्वारा इसका प्रवचन हुआ। चूँकि भगवान् की लीलाएँ उनके शुद्ध भक्तों के संग में सम्पन्न होती हैं फलतः इस महान् ग्रन्थ में उन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है क्योंकि इनका सम्बन्ध कृष्ण से है। यह *ब्रह्म-सम्मिमतम्* कहलाता है, क्योंकि यह भगवान् कृष्ण का वाणीरूप प्रतिनिधि है, जिस तरह कि *भगवद्गीता* भगवान् का वाणी-अवतार है क्योंकि इसका प्रवचन भगवान् से ही हुआ और *श्रीमद्भागवत* भगवान् का वाणी अवतार है क्योंकि

इसका प्रवचन भगवान् के ही अवतार द्वारा भगवान् के कार्यकलापों के विषय में हुआ। जैसाकि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा गया है यह वैदिक कल्पवृक्ष का सार है और ब्रह्म विषय पर सर्वोच्च शोध ग्रन्थ, ब्रह्म-सूत्र, का सहज भाष्य है। व्यासदेव द्वारपर युग के अन्त में सत्यवती के पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए थे। अतएव इस प्रसंग में द्वारपर-आदौ का अर्थ होगा कलियुग के शुभारम्भ से ठीक पहले। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, इस कथन का तर्क वृक्ष के ऊपरी भाग को उसका शुभारम्भ कहने की भाँति है। यद्यपि वृक्ष का आदि (शुभारम्भ) उसका मूल है, लेकिन सामान्य जन को वृक्ष का ऊपरी हिस्सा ही पहले दिखता है। इस तरह वृक्ष का अन्तिम भाग उसका आदि भाग मान लिया जाता है।

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तम-श्लोक-लीलया ।

गृहीत-चेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

परिनिष्ठितः—पूर्णतया अनुभूत; अपि—भी; नैर्गुण्ये—अध्यात्म में; उत्तम—प्रबुद्ध; श्लोक—श्लोक; लीलया—लीलाओं के द्वारा; गृहीत—आकृष्ट; चेताः—ध्यान; राजर्षे—हे राजर्षि; आख्यानम्—वर्णन, चित्रण; यत्—जो; अधीतवान्—मैंने अध्ययन किया है।

हे राजर्षि, मैं दृढ़तापूर्वक अध्यात्म में पूर्ण रूप से स्थित था तथापि मैं उन भगवान् की लीलाओं के वर्णन के प्रति आकृष्ट हुआ, जिनका वर्णन उत्तम श्लोकों द्वारा किया जाता है।

तात्पर्य : सर्वप्रथम परम सत्य की अनुभूति दार्शनिक चिन्तन द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के रूप में की जाती है और दिव्य ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ बाद में परमात्मा रूप में की जाती है। किन्तु, यदि भगवत्कृपा से, कोई निर्विशेषवादी श्रीमद्भागवत के श्रेष्ठ कथनों से प्रबुद्ध होता है, तो वह भगवान् का दिव्य भक्त बन जाता है। अल्प ज्ञान के सहारे हम परम सत्य के व्यक्तित्व को नहीं समझ सकते एवं भगवान् के साकार कार्यकलापों के प्रति अल्पज्ञ निर्विशेषवादी खेद व्यक्त करते हैं। किन्तु तर्कों के साथ-साथ परम सत्य तक पहुँचने की दिव्य विधि कट्टर से कट्टर निर्विशेषवादी को भी भगवान् के साकार कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होने में सहायक बन सकती है। शुकदेव गोस्वामी जैसा व्यक्ति किसी सांसारिक कार्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता, किन्तु जब ऐसे भक्त को श्रेष्ठ विधि द्वारा आश्वस्त कर लिया जाता है, तो वह अवश्य ही भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होता है। भगवान् दिव्य हैं और उसी तरह उनके कार्यकलाप भी दिव्य हैं। वे न तो निष्क्रिय हैं, न निर्विशेष।

तदहं तेऽभिधास्यामि महा-पौरुषिको भवान् ।

यस्य श्रद्धतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

तत्—वह; अहम्—मैं; ते—तुमको; अभिधास्यामि—सुनाऊँगा; महा-पौरुषिकः—भगवान् कृष्ण का अत्यन्त निष्ठावान् भक्त; भवान्—आप; यस्य—जिसका; श्रद्धताम्—पूरी तरह सम्मान तथा ध्यान देनेवाले का; आशु—अत्यन्त शीघ्र; स्यात्—ऐसा हो; मुकुन्दे—भगवान् में, जो मोक्ष-दाता हैं; मतिः—श्रद्धा; सती—निश्चल।

मैं उसी श्रीमद्भागवत को आपको सुनाने जा रहा हूँ, क्योंकि आप भगवान् कृष्ण के अत्यन्त निष्ठावान् भक्त हैं। जो व्यक्ति श्रीमद्भागवत को पूरे मनोयोग से तथा सम्मानपूर्वक सुनता है, उसे मोक्षदायक परमेश्वर की अविचल श्रद्धा प्राप्त होती है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत मान्य वैदिक वाङ्मय है और वैदिक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रणाली अवरोहपन्था, अर्थात् प्रामाणिक शिष्य-परम्परा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की विधि कहलाती है। भौतिक ज्ञान की उन्नति के लिए वैयक्तिक सामर्थ्य तथा शोध प्रवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में सारी प्रगति बहुत कुछ गुरु की कृपा पर निर्भर करती है। गुरु को शिष्य से सन्तुष्ट होना चाहिए, तभी आध्यात्मिक विज्ञान के विद्यार्थी के समक्ष वह ज्ञान स्वतः प्रकट होगा। किन्तु इस विधि को किसी तरह की जादूगरी मानने की भूल नहीं करनी चाहिए जिसमें गुरु जादूगर की तरह शिष्य के भीतर आध्यात्मिक ज्ञान पहुँचा देगा मानो वह उसे विद्युतधारा से आवेशित कर रहा हो। प्रामाणिक गुरु अपने शिष्य को प्रत्येक बात वैदिक वाङ्मय के प्रमाणों के आधार पर बताता है। शिष्य ऐसी शिक्षा को, मात्र बौद्धिक न मानकर, विनीत भाव से जिज्ञासा करके तथा सेवा भाव से ग्रहण कर सकता है। भाव यह है कि शिष्य तथा गुरु दोनों को प्रामाणिक होना चाहिए। यहाँ पर गुरु शुकदेव गोस्वामी ने अपने महान् पिता से जो कुछ सीखा है, उसे वे उसी रूप में सुनाने के लिए उद्यत हैं और शिष्य, महाराज परीक्षित, भगवान् कृष्ण के परम भक्त हैं। भगवान् कृष्ण का भक्त वह होता है, जो निष्ठावान् होकर यह विश्वास करता है कि भगवद्भक्त होकर, मनुष्य प्रत्येक आध्यात्मिक वस्तु से पूरी तरह सज-सँवर जाता है। यह शिक्षा साक्षात् भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* के पृष्ठों में दी गई है, जिसमें यह स्पष्ट वर्णन है कि भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं और पूर्णरूप से उनकी शरण ग्रहण करने से मनुष्य पूर्ण रूप से पवित्र व्यक्ति बन जाता है। भगवान् कृष्ण के प्रति ऐसी अविचल श्रद्धा से मनुष्य

श्रीमद्भागवत का विद्यार्थी बन जाता है और वह अन्त में उसी तरह मोक्ष प्राप्त करता है, जिस तरह महाराज परीक्षित ने प्राप्त किया था। श्रीमद्भागवत के व्यावसायिक वाचक तथा छद्म भक्त, जिनकी श्रद्धा एक सप्ताह के सुनने पर निर्भर होती है, वे शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित से भिन्न होते हैं। श्रीव्यासेदव ने शुकदेव गोस्वामी को जन्माद्यस्य श्लोक से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत सुनाई। अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भी राजा को पूरी भागवत सुनाया। भगवान् कृष्ण को श्रीमद्भागवत (ग्यारहवें स्कंध) में महापुरुष के रूप में बताया गया है, जो कि स्वयं ही भक्तिमय स्वरूप में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तिमयी प्रवृत्ति में साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं, जो कलियुग की पतितात्माओं पर विशेष कृपा करनेके लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। भगवान् कृष्ण के इस महापुरुष स्वरूप की स्तुति करने के उपयुक्त, दो श्लोक हैं :

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं  
 तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ॥  
 भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं  
 वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥  
 त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं  
 धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ॥  
 मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्  
 वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

( भागवत ११.५.३३-३४ )

दूसरे शब्दों में, पुरुष का अर्थ है भोक्ता और महापुरुष का अर्थ है परमभोक्ता या भगवान् श्रीकृष्ण। जो व्यक्ति परमेश्वर श्रीकृष्ण के पास तक पहुँचने के योग्य है, वह महापौरुषिक कहलाता है। जो कोई श्रीमद्भागवत को प्रामाणिक वाचक से ध्यानपूर्वक सुनता है, वह निश्चित रूप से मोक्ष के प्रदाता भगवान् का निष्ठावान भक्त बन जाता है। श्रीमद्भागवत को सुनने के मामले में महाराज परीक्षित जैसा सावधान कोई नहीं था और श्रीमद्भागवत को सुनाने के लिए शुकदेव गोस्वामी जैसा कोई सुयोग्य

व्यक्ति नहीं था। इसलिए जो भी आदर्श वाचक या आदर्श श्रोता रूप शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, निस्सन्देहवह उन्हीं की तरह मोक्ष प्राप्त करेगा। महाराज परीक्षित को केवल श्रवण द्वारा मोक्ष मिला और शुकदेव गोस्वामी ने केवल प्रवचन करके मोक्ष प्राप्त किया। प्रवचन (पाठ) तथा श्रवण, नौ भक्तिमय कार्यों में से दो कार्य हैं और इन सिद्धान्तों के आंशिक या समग्र रूप में पालन करने से मनुष्य को परम पद प्राप्त हो सकता है। अतएव *श्रीमद्भागवत* का सम्पूर्ण पाठ, *जन्माद्यस्य* श्लोक से प्रारम्भ करके बारहवें स्कंध के अन्तिम श्लोक तक, महाराज परीक्षित की मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त शुकदेव गोस्वामी द्वारा सुनाया गया। *पद्मपुराण* में इसका उल्लेख है कि गौतम मुनि ने महाराज अम्बरीष को सलाह दी कि वे शुकदेव गोस्वामी द्वारा *श्रीमद्भागवत* के पारायण को नियमित रूप से सुनें। यहाँ इसकी पुष्टि है कि महाराज अम्बरीष ने *श्रीमद्भागवत* को आदि से अन्त तक उसी रूप में सुना जिस रूप में शुकदेव गोस्वामी ने उसका प्रवचन किया। अतएव जिसकी रुचि *भागवत* में है, उसे चाहिए कि वह कुछ अंश यहाँ से और कुछ अंश वहाँ से पढ़कर उसके साथ खिलवाड़ न करें, अपितु वह महाराज अम्बरीष अथवा महाराज परीक्षित जैसे महान् राजाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करे और उसे शुकदेव गोस्वामी के किसी प्रामाणिक प्रतिनिधि से ही सुने।

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो-भयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह है; निर्विद्यमानानाम्—जो समस्त भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हैं, उनका; इच्छताम्—जो समस्त प्रकार के भौतिक भोग के इच्छुक हैं, उनका; अकुतः-भयम्—समस्त सन्देहों तथा भय से मुक्त; योगिनाम्—आत्मतुष्टों का; नृप—हे राजा; निर्णीतम्—निश्चित सत्य; हरेः—भगवान् श्रीकृष्ण का; नाम—पवित्र नाम; अनु—किसी के पीछे, सदैव; कीर्तनम्—कीर्तन।

हे राजन्, महापुरुषों का अनुगमन करके भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन उन समस्त लोगों के लिए सफलता का निःसंशय तथा निर्भीक मार्ग है, जो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, अथवा जो समस्त भौतिक भोगों के इच्छुक हैं और उन लोगों के लिए भी, जो दिव्य ज्ञान के कारण आत्मतुष्ट हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में मुकुन्द के प्रति आसक्ति की नितान्त आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ

है। ऐसे विभिन्न प्रकार के लोग हैं, जो नाना प्रकार के कार्यों में सफलता प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। सामान्यतया ये लोग भौतिकतावादी हैं, जो भौतिक तृप्ति का सर्वाधिक भोग करना चाहते हैं। उनके बाद अध्यात्मवादियों का नम्बर आता है जिन्होंने भौतिक भोग की प्रकृति के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है और इस तरह वे जीवन की भ्रामक शैली से दूर रहते हैं। न्यूनाधिक वे आत्म-साक्षात्कार द्वारा अपने आप में सन्तुष्ट रहते हैं। इनसे भी ऊपर भगवद्भक्त हैं, जो न तो भौतिक जगत को भोगने की कामना करते हैं और न इससे छुटकारा पाने की इच्छा करते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण को तुष्ट करने में लगे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त अपने लिए कोई कामना नहीं करते। यदि भगवान् की इच्छा हो, तो भक्त समस्त भौतिक सुविधाओं को स्वीकार करते हैं और यदि भगवान् इसे नहीं चाहते, तो भक्तगण समस्त प्रकार की सुविधाएँ, यहाँ तक कि मोक्ष को भी, ताक पर रख सकते हैं। न ही वे आत्मतुष्ट (आत्माराम) होते हैं क्योंकि वे केवल भगवान् की ही तुष्टि चाहते हैं। इस श्लोक में श्रीशुकदेव गोस्वामी भगवान् के दिव्य कीर्तन की संस्तुति करते हैं। भगवान् के पवित्र नाम के निरपराध भाव से कीर्तन तथा श्रवण से मनुष्य पहले भगवान् के दिव्य रूप से परिचित होता है, फिर भगवान् के गुणों से और तब उनकी लीलाओं इत्यादि की दिव्य प्रकृति से परिचित होता है। यहाँ पर इसका उल्लेख हुआ है कि भगवन्नाम को अधिकारियों से सुनकर उसका निरन्तर कीर्तन करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकारियों से श्रवण करना पहली शर्त है। पवित्र नाम का श्रवण करते रहने से, क्रमशः मनुष्य भगवान् के रूप, गुण, लीलाओं आदि के विषय में श्रवण करने की अवस्था को प्राप्त होता है और इस तरह उत्तरोत्तर उनकी महिमा के कीर्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती है। यह विधि न केवल भक्ति की सफल सम्पन्नता के लिए संस्तुत की गई है, अपितु उन लोगों के लिए भी है, जो भौतिक रूप से आसक्त हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी के अनुसार, सफलता प्राप्त करने की यह सुस्थापित विधि है, जो न केवल उनके द्वारा अपितु समस्त अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित की गई है। अतएव और आगे प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह विधि, न केवल आदर्शवादी सफलता के विभिन्न विभाग के जिज्ञासुओं के लिए संस्तुत है, अपितु उन लोगों के लिए भी है जिन्होंने कर्मी, दार्शनिक या भगवद्भक्त के रूप में पहले ही सफलता प्राप्त कर ली है।



श्रील जीव गोस्वामी का उपदेश है कि भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन उच्चस्वर से और साथ ही *पद्मपुराण* की संस्तुति के अनुसार निरपराध भाव से सम्पन्न किया जाना चाहिए। मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर, समस्त पापकर्मों के प्रभावों से अपने को उबार सकता है। मनुष्य भगवान् के नाम की शरण लेकर, अपने को भगवान् के चरणकमलों के प्रति अपराधों से छुड़ा सकता है। किन्तु यदि कोई भगवन्नाम के चरणों पर अपराध करता है, तो वह अपने को बचा नहीं सकता। *पद्मपुराण* में ऐसे अपराधों का उल्लेख है जिनकी संख्या दस बताई गई है। पहला अपराध उन महान् भक्तों को कलंकित करना है, जिन्होंने भगवान् की महिमा का उपदेश किया है। दूसरा अपराध है भगवान् के पवित्र नामों को संसारी ख्याति के रूप में देखना। भगवान् समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। अतएव वे विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से जाने जा सकते हैं, किन्तु इससे भगवान् की किसी तरह पूर्णता सिद्ध नहीं होती। भगवान् के लिए प्रयुक्त कोई भी नाम-शब्दावली, अन्य किसी भी नाम जैसी पवित्र है, क्योंकि वे सभी भगवान् के निमित्त हैं। ऐसे पवित्र नाम भगवान् के ही समान शक्तिशाली होते हैं और सृष्टि के किसी भी भाग में, भगवान् के किसी एक स्थानीय तौर पर परिचित नाम का कीर्तन करने तथा भगवान् की महिमा के गायन करने में, कोई रोकटोक नहीं है। सारे नाम कल्याणप्रद हैं और मनुष्य को चाहिए कि ऐसे नामों में भौतिक व्यापारिक वस्तु की तरह भेद-भाव नहीं समझे। तीसरा अपराध है प्रधिकृत आचार्य या गुरु के आदेशों की उपेक्षा करना। चौथा अपराध शास्त्रों को या वैदिक ज्ञान को कलंकित करना है। पाँचवाँ अपराध भगवान् के पवित्र नाम को अपनी संसारी गणना के अनुसार परिभाषित करना है। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न है और मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के पवित्र नाम को उनसे अभिन्न समझे। छठा अपराध है पवित्र नाम की मनमानी व्याख्या। न तो भगवान् काल्पनिक हैं, न ही उनका पवित्र नाम काल्पनिक हैं। किन्तु कुछ ऐसे अल्पज्ञ हैं, जो भगवान् को पूजक की कल्पना मानते हैं और इस तरह उनके पवित्र नाम को काल्पनिक समझते हैं। ऐसे भगवन्नामजापक को पवित्रनाम के कीर्तन में वांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। सातवाँ अपराध है पवित्र नाम के बल पर जानबूझ कर पाप करना। शास्त्रों में कहा गया है कि केवल भगवन्नाम के कीर्तन से समस्त पापकर्मों के प्रभावों से छूटा जा सकता है। जो व्यक्ति इस दिव्य विधि का लाभ उठाता है और इस उम्मीद से

पाप करता जाता है कि भगवान् के पवित्र नाम के जप से पापों के प्रभाव निरस्त होते रहेंगे, तो वह पवित्र नाम के चरणों पर सबसे बड़ा अपराधी है। ऐसे अपराधी, शुद्धि की किसी भी संस्तुत विधि से, अपने को शुद्ध नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, भले ही भगवान् के पवित्र नाम के जप के पूर्व कोई पापी हो, लेकिन भगवान् के पवित्र नाम की शरण ग्रहण कर लेने पर और प्रतिरक्षित बन जाने पर, मनुष्य को चाहिए कि वह इस आशा से पाप करने से विलग रहे कि यह पवित्र नाम-जप उसकी रक्षा करेगा। आठवाँ अपराध है भगवान् के पवित्र नाम तथा उसकी जप-विधि को किसी भौतिक शुभकर्म के तुल्य समझना। भौतिक लाभ के लिए अनेक प्रकार के शुभकर्म हैं, लेकिन पवित्र नाम तथा इसका जप केवल पवित्र शुभ सेवा नहीं हैं। निस्सन्देह पवित्र नाम पवित्र सेवा है, लेकिन इसका उपयोग ऐसे कार्यों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। चूँकि पवित्र नाम तथा भगवान् एक ही सत्ता हैं, अतएव पवित्र नाम को मानवता की सेवा में नहीं घसीटना चाहिए। भाव यह है कि परमेश्वर परम भोक्ता है। वह न तो किसी का सेवक है, न ही आदेश पालन है। इसी प्रकार चूँकि भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न है, अतएव पवित्र नाम का उपयोग निजी सेवा के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

नवाँ अपराध है ऐसे लोगों को पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति के विषय में उपदेश देना, जो भगवान् के पवित्र नाम का जप नहीं करना चाहते। यदि ऐसा उपदेश अनिच्छुक श्रोतागण को दिया जाता है, तो इस कार्य को पवित्र नाम के चरणों पर अपराध माना जाता है। दसवाँ अपराध है पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति के विषय में सुनने के बाद भी भगवान् के पवित्र नाम के प्रति अरुचि प्रदर्शित करना। भगवान् के पवित्र नाम के जप से जो प्रभाव अनुभव किया जाता है, वह है झूठे अहंकार की धारणा से जापक की मुक्ति। झूठा अहंकार, अपने को विश्व का भोक्ता समझने तथा यह सोचने के कारण प्रकट होता है कि विश्व की सारी वस्तुएँ उसी के उपयोग के लिए हैं। सारा भौतिकतावादी जगत 'मैं' तथा 'मेरा' के झूठे अहंकार के वशीभूत है, किन्तु ऐसी भ्रान्त धारणा से मुक्त होना ही पवित्र नाम के जप का असली प्रभाव होता है।

**किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।**

**वरं मुहूर्तं विदितं घटते श्रेयसे यतः ॥ १२ ॥**

### शब्दार्थ

किम्—क्या है; प्रमत्तस्य—मोहग्रस्त का; बहुभिः—बहुतों के द्वारा; परोक्षैः—अनुभव-विहीन; हायनैः—वर्षों तक; इह—इस संसार में; वरम्—श्रेष्ठ; मुहूर्तम्—एक क्षण; विदितम्—चेतन; घटते—प्रयास कर सकता है; श्रेयसे—परमार्थ के मामले में; यतः—जिससे।

ऐसे दीर्घ जीवन से क्या लाभ, जिसे इस संसार में वर्षों तक अनुभवहीन बने रहकर गँवा दिया जाये? इससे तो अच्छा है पूर्ण चेतना का एक क्षण, क्योंकि इससे उसके परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

**तात्पर्य :** श्रील शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की महत्ता का उपदेश दिया। राजा को प्रोत्साहित करने के लिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने जोर देकर कहा कि जीवन की समस्याओं को जाने बिना सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहने से कोई लाभ नहीं—इससे तो परमार्थ की चेतना से युक्त एक क्षण का भी जीवन श्रेयस्कर है। जीवन का परमार्थ सत्, चित् तथा आनन्द से पूर्ण है। जो लोग भौतिक जगत के बाह्य लक्षणों से मोहग्रस्त रहते हैं और 'खाओ, पीओ, मौज करो' जैसी पाशविक वृत्ति में लगे रहते हैं, वे मूल्यवान समय को व्यर्थ ही गुजारते हुए अपने जीवन को गँवा रहे हैं। हमें पूर्ण चेतना में रहकर यह समझ लेना चाहिए कि बद्धजीव को यह मनुष्य-जीवन आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्राप्त हुआ है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने की सरलतम विधि है भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन। पिछले श्लोक में हमने इस विषय की कुछ सीमा तक व्याख्या की है और अब आगे हम पवित्र नाम के चरणों पर किये जानेवाले विभिन्न अपराधों पर प्रकाश डालेंगे। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने प्रामाणिक शास्त्रों से अनेक उद्धरण दिये हैं और पवित्र नाम के चरणों पर किये जानेवाले अपराधों के विषय में व्यक्त विचारों की योग्यतापूर्वक पुष्टि की है। *विष्णुयामल तन्त्र* से, श्रील जीव गोस्वामी ने सिद्ध किया है कि भगवन्नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य सारे पापों के प्रभावों से मुक्त हो सकता है। *मार्कण्डेय पुराण* से उद्धरण देते हुए श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो भगवद्भक्त की निन्दा करे और न उन लोगों की बातें सुने, जो भगवद्भक्त को छोटा बताने का प्रयास करते रहते हैं। भक्त को चाहिए कि निन्दक की जीभ काटकर, उसे निन्दा करने से रोके और यदि ऐसा न कर सके तो उसे चाहिए कि भगवद्भक्त की निन्दा सुनने की अपेक्षा आत्मघात कर ले। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को न

तो भगवद्भक्त की निन्दा सुननी चाहिए, न किसी को ऐसा करने देना चाहिए। जहाँ तक देवताओं के नामों से भगवान् के पवित्र नाम में अन्तर करने की बात है, शास्त्र ( भगवद्गीता १०.४१ ) यह बताते हैं कि सारे असामान्य शक्तिशाली जीव परम शक्तिमान भगवान् कृष्ण के ही अंश हैं। स्वयं भगवान् के अतिरिक्त सभी उनके अधीन हैं, कोई भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। चूँकि कोई भी न तो भगवान् से अधिक शक्तिमान है या उनकी शक्ति के तुल्य है, अतः किसी का नाम भगवान् के नाम के समान शक्तिशाली नहीं हो सकता है। भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य समस्त स्रोतों से एक ही समय घटित होनेवाली नियत शक्ति प्राप्त कर सकता है। अतएव भगवान् के परम पवित्र नाम की समता अन्य नाम से नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मा, शिव या अन्य शक्तिशाली देवता कभी परम भगवान् विष्णु के समान नहीं हो सकते। भगवान् का शक्तिशाली पवित्र नाम निश्चित रूप से मनुष्य को पाप के प्रभावों से उबार सकता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम की दिव्य शक्ति का उपयोग अपने कुत्सित कार्यों के लिए करना चाहते हैं, वे संसार में सबसे पतित व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को भगवान् या उनके गण कभी भी क्षमा नहीं करते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सभी प्रकार से, बिना किसी अपराध के, अपने जीवन का उपयोग भगवान् के यशोगान में करे। जीवन के ऐसे कार्य की, भले ही वह एक क्षण का हो, तुलना अज्ञानमय दीर्घ जीवन से नहीं की जा सकती, जैसे वृक्ष या अन्य जीवों का दीर्घ जीवन जो किसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति किये बिना हजारों वर्षों तक जीवित रह सकते हैं।

**खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयन्तामिहायुषः ।**

**मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥ १३ ॥**

**शब्दार्थ**

खट्वाङ्गः— राजा खट्वाङ्ग; नाम— नामक; राज-ऋषिः— ऋषितुल्य राजा; ज्ञात्वा— जानकर; इयन्ताम्— अवधि; इह— इस संसार में; आयुषः— अपने जीवन की; मुहूर्तात्— एक ही क्षण में; सर्वम्— सब कुछ; उत्सृज्य— छोड़कर; गतवान्— स्वीकार किया; अभयम्— पूरी तरह सुरक्षित; हरिम्— भगवान् को।

राजर्षि खट्वाङ्ग को जब यह सूचना दी गई कि उनकी आयु का केवल एक क्षण ( मुहूर्त ) शेष है, तो उन्होंने तुरन्त अपने आपको समस्त भौतिक कार्यकलापों से मुक्त करके परम रक्षक भगवान् की शरण ले ली।

**तात्पर्य :** पुरी तरह से जिम्मेदार व्यक्ति को अपने वर्तमान मनुष्य-जीवन के मूल कर्तव्य का भान होना चाहिए। भौतिक जीवन की आसन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया कर्म ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य को अगले जीवन में श्रेष्ठतम पद प्राप्त करने के लिए अपने कर्तव्य के प्रति चौकन्ना रहना चाहिए। मनुष्य-जीवन हमें इसी मुख्य कर्तव्य की तैयारी करने के लिए मिला है। यहाँ पर महाराज खट्वांग का उल्लेख राजर्षि के रूप में हुआ है, क्योंकि वे अपने ऊपर राज्य-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व होते हुए भी अपने जीवन के मुख्य कर्तव्य को भूले नहीं थे। यही हाल महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे अन्य राजर्षियों का था। वे अपने मुख्य कर्तव्य को निभाने के प्रति जागरूक रहने के कारण आदर्श व्यक्ति थे। महाराज खट्वांग को देवताओं ने असुरों से युद्ध करने के लिए स्वर्ग में बुलाया था और राजा के रूप में उन्होंने देवताओं को पूरी तरह सन्तुष्ट करते हुए युद्ध किया। इस पर देवताओं ने प्रसन्न होकर उन्हें भौतिक भोग का कोई वर देना चाहा, लेकिन चूँकि महाराज खट्वांग अपने प्रमुख कर्तव्य के प्रति अत्यन्त जागरूक थे, अतएव उन्होंने देवताओं से अपने शेष जीवन के विषय में पूछा। इसका अर्थ यह है कि वे भौतिक वर प्राप्त करने के फेर में न थे, क्योंकि उन्हें अगले जीवन की तैयारी करनी थी। किन्तु देवताओं ने उन्हें बताया कि उनके जीवन का केवल एक क्षण शेष है, तो राजा ने तुरन्त उस स्वर्गधाम को छोड़ दिया, जो उच्चस्तरीय भौतिक भोग से पूरित है और पृथ्वी पर आकर उन्होंने परम रक्षक भगवान् की शरण ली। वे अपने महत्प्रयास में सफल रहे और उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई। राजर्षि द्वारा यह प्रयास, यद्यपि एक क्षण के लिए था, किन्तु सफल रहा क्योंकि वे अपने मुख्य कर्तव्य के प्रति सदैव जागरूक रहे। इस तरह से महाराज परीक्षित महान् शुकदेव गोस्वामी द्वारा प्रोत्साहित हुए, यद्यपि उनके जीवन के सात ही दिन शेष थे, जिसमें उन्हें *श्रीमद्भागवत* के रूप में भगवान् की महिमा-श्रवण करने का मुख्य कर्तव्य सम्पन्न करना था। भगवान् की इच्छा से महाराज परीक्षित को तुरन्त शुकदेव गोस्वामी मिल गये और आध्यात्मिक सफलता का जो महान् कोष वे अपने पीछे छोड़ गये हैं, उसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में सुन्दर ढंग से हुआ है।

**तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।**

**उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥ १४ ॥**

### शब्दार्थ

तव—तुम्हारा; अपि—भी; एतर्हि—अतएव; कौरव्य—हे कुरुवंशी; सप्ताहम्—सात दिन, हफ्ता; जीवित—आयु; अवधि:—सीमा; उपकल्पय—सम्पन्न करो; तत्—वे; सर्वम्—समस्त; तावत्—तब तक; यत्—जो है; साम्प्राधिकम्—अगले जीवन के लिए अनुष्ठान।

हे महाराज परीक्षित, अब आपकी आयु के और सात दिन शेष हैं। अतएव इस अवधि में आप उन समस्त अनुष्ठानों को सम्पन्न कर सकते हैं, जो आपके अगले जीवन के परम कल्याण के लिए आवश्यक हैं।

**तात्पर्य :** महाराज खट्वांग जिन्होंने अत्यल्प समय में अपने अगले जीवन के लिए अपने आपको तैयार कर लिया था उनका उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को यह कहकर प्रोत्साहित किया कि चूँकि उनके पास अब भी सात दिन शेष हैं, अतएव उन्हें अगले जीवन की तैयारी के लिए इस समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए। एक तरह से गोस्वामीजी ने महाराज परीक्षित को बताया कि वे भगवान् के शब्द-रूप की शरण ग्रहण कर लें, क्योंकि उनके जीवन के अब भी सात दिन शेष हैं। इस प्रकार से वे मुक्त हो लें। दूसरे शब्दों में, शुकदेव गोस्वामी ने जिस तरह महाराज परीक्षित को *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी, उसी रूप में उसका श्रवण करके प्रत्येक व्यक्ति अगले जीवन की अच्छी तरह तैयारी कर सकता है। ये अनुष्ठान औपचारिक नहीं हैं, अपितु कुछ अनुकूल बातें हैं जिनका पालन करना होता है और जिनका आदेश आगे दिया गया है।

अन्त-काले तु पुरुष आगते गत-साध्वसः ।

छिन्द्यादसङ्ग-शस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥ १५ ॥

### शब्दार्थ

अन्त-काले—जीवन की अन्तिम अवस्था में; तु—लेकिन; पुरुषः—व्यक्ति; आगते—आ करके; गत-साध्वसः—मृत्यु के भय के बिना; छिन्द्यात्—काट दे; असङ्ग—अनासक्ति; शस्त्रेण—हथियार से; स्पृहाम्—सारी इच्छाओं को; देहे—भौतिक शरीर से; अनु—से सम्बन्धित; ये—वे सब; च—तथा; तम्—उसको।

मनुष्य को चाहिए कि जीवन के अन्तकाल में मृत्यु से तनिक भी भयभीत न हो, अपितु वह भौतिक शरीर से तथा उससे सम्बन्धित सारी वस्तुओं एवं उसकी समस्त इच्छाओं से अपनी आसक्ति तोड़ ले।

**तात्पर्य :** स्थूल भौतिकतावाद की मूर्खता यह है कि लोग इस संसार में स्थायी रूप से रहना चाहते हैं, जबकि यह निश्चित तथ्य है कि मनुष्य को बहुमूल्य मानवीय शक्ति से सृजित प्रत्येक वस्तु को यहीं

छोड़ना पड़ता है। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, विज्ञानी, दार्शनिक आदि आत्मा की कोई जानकारी न होने के कारण मूर्ख हैं और वे सोचते हैं कि कुछ वर्षों का यह जीवन ही सब कुछ है, मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं है। संसार के विद्वन्मण्डल में भी, इस तरह का अल्पज्ञान मानवीय शक्ति के प्राणत्व का हनन कर रहा है और इसके भयावह परिणाम देखने को मिल रहे हैं। इतने पर भी मूर्ख भौतिकतावादी लोग इसकी परवाह नहीं करते कि अगले जीवन में क्या होने जा रहा है। *भगवद्गीता* का प्राथमिक उपदेश है कि मनुष्य यह जाने कि इस शरीर का अन्त होने पर जीव की पहचान समाप्त नहीं होती है, क्योंकि शरीर तो मात्र बाहरी वस्त्र है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र बदलता है, उसी तरह जीव शरीर बदलता है और शरीर का यह बदलाव (परिवर्तन) ही मृत्यु कहलाता है। अतएव वर्तमान जीवन-अवधि (आयु) के अन्त में शरीर की मृत्यु परिवर्तन की प्रक्रिया है। बुद्धिमान मनुष्य को इसके लिए तैयार रहना चाहिए और अगले जीवन में सर्वोत्तम प्रकार का शरीर पाने के लिए प्रयास करना चाहिए। सर्वोत्तम प्रकार का शरीर आध्यात्मिक शरीर है। यह उन लोगों को मिलता है, जो भगवद्धाम जाते हैं या ब्रह्म के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इस स्कंध के द्वितीय अध्याय में इस विषय की विशद व्याख्या की जायेगी, लेकिन जहाँ तक शरीर-परिवर्तन की बात है, मनुष्य को चाहिए कि अभी से अगले जीवन की तैयारी करे। मूर्खलोग वर्तमान नश्वर जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं और मूर्ख नेता शरीर तथा शारीरिक सम्बन्धों पर बल देते हैं। ये शारीरिक सम्बन्ध इस शरीर तक ही नहीं सीमित होते, अपितु परिजनों, पत्नी, बच्चों, समाज, देश तथा अन्य अनेक बातों तक विस्तारित होते हैं, जिनका अन्त मृत्यु के साथ हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य वर्तमान शारीरिक सम्बन्धों को भूल जाता है। हमें इस प्रकार का थोड़ा अनुभव रात को सोते समय होता है। सोते समय हम इस शरीर को तथा सारे शारीरिक सम्बन्धों को भूल जाते हैं, यद्यपि यह विस्मृति कुछ घण्टों की क्षणिक अवस्था ही होती है। मृत्यु कुछ मासों के लिए निद्रा के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसमें दूसरा शारीरिक बन्धन विकसित होता है, जो हमें प्रकृति के नियम द्वारा हमारी आकांक्षा के अनुसार दिया जाता है। अतएव मनुष्य को इस वर्तमान शरीर की अवधि में आकांक्षा को परिवर्तित करना होता है। अतएव इस मनुष्य-जीवन में इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यह प्रशिक्षण जीवन की किसी भी अवस्था में, यहाँ तक कि मृत्यु के

कुछ क्षण पूर्व भी, चालू किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामान्य विधि यह है कि यह प्रशिक्षण प्रारम्भ से, ब्रह्मचर्य अवस्था से शुरू किया जाय और धीरे-धीरे गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की दिशा में इसमें प्रगति की जाये। इस प्रशिक्षण को देने वाली संस्था वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म पद्धति कहलाती है, जो मनुष्य जीवन को पूर्ण बनाने की सर्वोत्तम विधि है। अतएव यह आवश्यक है कि जब मनुष्य अधिक से अधिक पचास वर्ष की आयु प्राप्त कर ले, तो वह पारिवारिक, सामाजिक या राजनैतिक जीवन से अपना नाता तोड़ ले और उसे वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का प्रशिक्षण अगले जीवन की तैयारी के लिए दिया जाए। लेकिन जनता के नेता के रूप में मूर्ख भौतिकतावादी लोग पारिवारिक मामलों से सम्बन्ध-विच्छेद न करके उन्हीं के प्रति आसक्त रहते हैं। इस प्रकार वे प्रकृति के नियम के शिकार बनते हैं और अपने कर्म के अनुसार पुनः स्थूल शरीर प्राप्त करते हैं। ऐसे मूर्ख नेताओं को, जीवन के अन्तिम समय, लोगों से कुछ सम्मान प्राप्त हो सकता है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वे इस प्राकृतिक नियम से अछूते रहें, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के हाथ-पाँव जकड़े हुए रहते हैं। इसीलिए सबसे अच्छा यही है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से पारिवारिक सम्बन्धों को त्याग दे और इस तरह वह परिवार, समाज, देश आदि की आसक्ति को भगवद्भक्ति में स्थानान्तरित कर दे। यहाँ पर यह बताया गया है कि उसे पारिवारिक-आसक्ति की सारी इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि श्रेष्ठतर इच्छाओं को अवसर दे अन्यथा ऐसी कुत्सित इच्छाओं के परित्याग का अवसर नहीं आयेगा। इच्छा तो जीव के साथ जुड़ी है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव जीव की इच्छाएँ भी जो उसके लिए स्वाभाविक हैं, शाश्वत हैं। अतएव मनुष्य इच्छा करना छोड़ नहीं सकता, किन्तु इच्छाओं की विषयवस्तु तो बदली ही जा सकती है। इस तरह मनुष्य को भगवद्धाम जाने की इच्छा विकसित करनी चाहिए। इससे भक्ति के विकास के अनुपात के अनुसार भौतिक लाभ, भौतिक सम्मान तथा भौतिक लोकप्रियता की इच्छाएँ स्वतः कम होंगी। जीव तो सेवा-कार्यों के निमित्त है और उसकी इच्छाएँ इसी सेवा-मनोवृत्ति के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। राज्य के सर्वोच्च प्रशासक से लेकर सड़क के नगण्य भिखारी तक सभी लोग दूसरों की कोई न कोई सेवा कर रहे हैं। ऐसी सेवा-मनोवृत्ति को पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब सेवा की इच्छा को पदार्थ से आत्मा में, या शैतान से ईश्वर में



स्थानान्तरित कर दिया जाय।

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्य-तीर्थ-जलाप्लुतः ।  
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

गृहात्—अपने घर से; प्रव्रजितः—बाहर जाकर; धीरः—आत्मसंयमी; पुण्य—पवित्र; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; जल-आप्लुतः—पूरी तरह धोया हुआ; शुचौ—स्वच्छ किया; विविक्ते—एकान्त; आसीनः—बैठा हुआ; विधिवत्—नियमानुसार; कल्पित—सम्पन्न करके; आसने—आसन पर।

मनुष्य को घर छोड़ करके आत्मसंयम का अभ्यास करना चाहिए। उसे तीर्थस्थानों में नियमित रूप से स्नान करना चाहिए और ठीक से शुद्ध होकर एकान्त स्थान में आसन जमाना चाहिए।

तात्पर्य : श्रेष्ठतर अगले जीवन की तैयारी के लिए मनुष्य को तथाकथित घर छोड़ देना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म की पद्धति कहती है कि पचास वर्ष की आयु पार कर लेने के बाद, जितनी जल्दी हो सके, पारिवारिक भार से वैराग्य ले लेना चाहिए। आधुनिक सभ्यता पारिवारिक सुविधाओं पर आधारित है, जिसे सुख-सुविधाओं का सर्वोच्च मानदण्ड माना जाता है। अतएव हर व्यक्ति, सेवा-निवृत्ति के बाद, ऐसे घर में रहना चाहता है, जो सुन्दर स्त्रियों तथा बच्चों से अलंकृत हो। वह ऐसे सुविधापूर्ण घर से बाहर जाने की रंचमात्र इच्छा नहीं करता। उच्च सरकारी अफसर तथा मन्त्री, मृत्यु के समय तक, अपने उपहार-रूपी पदों पर चिपके रहते हैं और वे इन घेरलू सुविधाओं से बाहर निकलने का स्वप्न में भी विचार नहीं करते। ऐसे व्यामोह से बँधकर, भौतिकतावादी व्यक्ति इससे भी अधिक सुखी जीवन की विविध योजनाएँ तैयार करते हैं। किन्तु क्रूर मृत्यु सहसा बड़े से बड़े योजना-कारों को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उठा लेती है और इस शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करने के लिए बाध्य कर देती है। इस तरह ऐसे योजनाकार को अपने किये गये पूर्व कर्मों के अनुसार ८४,००,००० जीव योनियों में से कोई एक शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जाता है। जो लोग पारिवारिक सुविधाओं के प्रति अधिक आसक्त होते हैं, उन्हें अगले जीवन में इस पापमय लम्बी आयु में किये गये पाप-कर्मों के कारण निम्न योनि प्रदान की जाती है। इस तरह मानव-जीवन की सारी शक्ति नष्ट हो जाती है। मनुष्य-जीवन को इस तरह बर्बाद होने और काल्पनिक वस्तुओं में लिप्त रहने

से बचाने के लिए मनुष्य को यदि पहले नहीं तो कम से कम पचास वर्ष की आयु में सावधान हो जाना चाहिए। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य इसे मान ले कि मृत्यु की खतरे की घंटी पचास वर्ष की आयु पूरी करने के पहले ही बज जाती है, अतएव हर हालत में उसे श्रेष्ठतर भावी जीवन के लिए तैयारी करनी चाहिए। सनातन धर्म संस्था की पद्धति ऐसी बनाई गई है कि इसका पालन करने वाला अगले जीवन के विनष्ट होने की किसी प्रकार की सम्भावना के बिना श्रेष्ठतर अगले जीवन के लिए प्रशिक्षित हो जाए। संसार भर में पवित्र स्थल (तीर्थस्थल) उन सेवानिवृत्त व्यक्तियों के आवास के लिए हैं, जो श्रेष्ठतर अगले जीवन की तैयारी करने में लगे रहते हैं। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्यों को जीवन के अन्त में, पचास वर्ष की आयु के पश्चात्, जीवन में बन्धनस्वरूप पारिवारिक आसक्ति से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक कायाकल्प का जीवन बिताने के उद्देश्य से तीर्थों में जाना चाहिए। मनुष्य को भौतिक आसक्ति से छुटकारा पाने के लिए गृह-त्याग करने की संस्तुति की जाती है, क्योंकि जो व्यक्ति मृत्यु तक पारिवारिक जीवन से चिपका रहता है, वह भौतिक आसक्ति को त्याग नहीं सकता और जब तक वह भौतिक आसक्ति को नहीं छोड़ता, तब तक वह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को नहीं समझ पाता। लेकिन उसे गृहत्याग करके या तीर्थ स्थान में वैध या अवैध रूप से दूसरा घर बनाकर आत्म-सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ऐसे अनेक लोग हैं, जो घर छोड़कर ऐसे तीर्थस्थानों में जाते हैं, किन्तु विपरीत-लिंगी कुसंगति में पड़कर पुनः गृहस्थ बन जाते हैं। माया की मोहिनी शक्ति इतनी प्रबल है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में, यहाँ तक कि अपने सुखी घर का त्याग करने के बाद भी, मनुष्य ऐसे मोह में पड़ सकता है। अतएव यह अनिवार्य है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा यौन-लिप्सा से रहित होकर आत्मसंयम का अभ्यास करे। जो व्यक्ति जीवन सुधारना चाहता है, उसके लिए यौन-लिप्सा आत्मघात या उससे भी बढ़कर है। अतएव पारिवारिक जीवन से पृथक् रहने का अर्थ है समस्त इन्द्रिय इच्छाओं पर और विशेष रूप से यौन-इच्छा पर, संयम रखना। इसकी विधि यह है कि मनुष्य को कुश, मृगचर्म तथा दरी का पवित्र आसन तैयार करना चाहिए और उस पर बैठकर उपर्युक्त विधि से निरपराध भाव से भगवान् के पवित्र नाम का जप करना चाहिए। यह समूची विधि मन को भौतिक कार्यों से खींचकर भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करने के निमित्त है। यह सरल विधि ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सफलता

दिलाने में सहायक होगी।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्धाक्षरं परम् ।

मनो यच्छेज्जित-श्वासो ब्रह्म-बीजमविस्मरन् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अभ्यसेत्—अभ्यास करना चाहिए; मनसा—मन से; शुद्धम्—पवित्र; त्रि-वृत्—तीन ( अक्षरों ) से निर्मित; ब्रह्म-अक्षरम्—दिव्य अक्षर; परम्—परम; मनः—मन; यच्छेत्—वश में करे; जित-श्वासः—श्वास को नियमित करके; ब्रह्म—परम; बीजम्—बीज को; अविस्मरन्—बिना भुलाये।

मनुष्य उपर्युक्त विधि से आसन जमा कर, मन को तीन दिव्य अक्षरों ( अ, उ, म् ) का स्मरण कराये और श्वास-विधि को नियमित करके मन को वश में करे, जिससे वह दिव्य बीज को नहीं भूले।

तात्पर्य : ॐकार अथवा प्रणव दिव्य अनुभूति का बीज है और यह तीन दिव्य अक्षरों अ, उ, म् से बना है। समाधि प्राप्त करने की दिव्य किन्तु यान्त्रिक विधि के द्वारा, जिसे महान् योगियों के अनुभव से खोजा गया है, श्वास-विधि ( प्राणायाम ) के साथ-साथ मन से जप करने से भौतिकता में लीन मन को वश में किया जा सकता है। मन की आदत को बदलने की यही विधि है। मन को मारना नहीं होती है। मन या इच्छा को रोका नहीं जा सकता, लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति की दिशा में काम करने के लिए मन की व्यस्तता के गुण को बदला जा सकता है। मन सक्रिय इन्द्रियों की धुरी है। अतएव यदि सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की प्रकृति परिवर्तित कर दी जाय तो स्वाभाविक है कि कर्मेन्द्रियों के कार्यों की प्रकृति भी बदल जायेगी। ॐकार समस्त दिव्य ध्वनि का बीज है और एकमात्र दिव्य ध्वनि ही मन तथा इन्द्रियों में वांछित परिवर्तन ला सकती है। यहाँ तक कि मानसिक रूप से असन्तुलित व्यक्ति भी दिव्य ध्वनि के उपचार से निरोग बनाया जा सकता है। *भगवद्गीता* में प्रणव ( ॐकार ) को परम सत्य की प्रत्यक्ष शाब्दिक अभिव्यक्ति कहा गया है। जो व्यक्ति उपर्युक्त विधि से भगवान् के पवित्र नाम का प्रत्यक्ष उच्चारण नहीं कर पाता, वह प्रणव ( ॐकार ) का जप आसानी से कर सकता है। यह ॐकार एक सम्बोधन है—यथा हे भगवान्! जिस प्रकार कि ॐ हरि ओम् का अर्थ है, हे मेरे स्वामी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् का पवित्र नाम भगवान् से अभिन्न होता है। उसी तरह ॐकार भी है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के कारण ( यथा नवदीक्षित )

भगवान् के दिव्य साकार रूप या नाम की अनुभूति कर पाने में अक्षम होते हैं, उन्हें प्राणायाम का अभ्यास करने के साथ-साथ मन में प्रणव (ॐकार) का बारम्बार उच्चारण करके आत्म-साक्षात्कार का अभ्यास करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं, भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुणों, लीलाओं इत्यादि को वर्तमान इन्द्रियों द्वारा समझ पाना असम्भव है, अतएव यह आवश्यक है कि समस्त विषयों के केन्द्र-बिन्दु मन के माध्यम से ऐसी दिव्य अनुभूति को गति प्रदान की जाय। भक्तगण अपने मन को सीधे ही परम सत्य-रूपी पुरुष पर स्थिर कर लेते हैं, किन्तु जो लोग ब्रह्म के ऐसे साकार स्वरूप को धारण नहीं कर सकते, उन्हें निर्विशेषता के प्रति मन को प्रशिक्षित करके प्रगति करने के लिए अनुशासित किया जाता है।

**नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धि-सारथिः ।**

**मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥ १८ ॥**

**शब्दार्थ**

नियच्छेत्—खींच ले; विषयेभ्यः—विषयों से; अक्षान्—इन्द्रियों को; मनसा—मन से; बुद्धि—बुद्धि; सारथिः—हाँकनेवाला; मनः—मन; कर्मभिः—सकाम कर्म से; आक्षिप्तम्—लीन रहकर; शुभ-अर्थे—भगवान् के निमित्त; धारयेत्—धारण करे; धिया—पूर्ण चेतना में।

धीरे-धीरे जब मन उत्तरोत्तर आध्यात्मिक हो जाय, तो उसे इन्द्रिय-कार्यों से खींच लिया जाय ( विलग कर लिया जाय )। इससे इन्द्रियाँ बुद्धि द्वारा वशीभूत हो जायेंगी। इससे भौतिक कार्य-कलापों में लीन मन भी भगवान् की सेवा में प्रवृत्त किया जा सकता है और पूर्ण दिव्य भाव में स्थिर हो सकता है।

**तात्पर्य :** प्रणव (ॐकार) के यान्त्रिक उच्चारण के द्वारा तथा श्वास के अवरोध (प्राणायाम) से मन के अध्यात्मिकरण की प्रथम प्रक्रिया (विधि) प्राणायाम की यौगिक विधि या श्वास को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने की विधि कहलाती है। इस प्राणायाम-पद्धति की चरम अवस्था समाधि है। किन्तु अनुभव से सिद्ध हो चुका है कि समाधि-अवस्था भी भौतिकता में लीन मन को वश में करने में असफल रहती है। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र समाधि-अवस्था प्राप्त करके भी इन्द्रियों के शिकार हो गये और उन्होंने मेनका के साथ सम्भोग किया। इतिहास इसका साक्षी है। यद्यपि मन सम्प्रति विषय-वासनाओं को सोचना बन्द कर देता है, किन्तु अवचेतन-मन से वह विगत विषय-वासनाओं का स्मरण

करता है और इस तरह मनुष्य को शत प्रतिशत आत्म-साक्षात्कार में लगने से रोक देता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी विश्वस्त नीति अपनाने के लिए कहते हैं और यह है मन को भगवान् की सेवा में स्थिर करना। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रत्यक्ष विधि की संस्तुति *भगवद्गीता* (६.४७) में भी करते हैं। इस तरह आध्यात्मिक रूप से मन के स्वच्छ होने पर, मनुष्य को तुरन्त श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति-कार्यों द्वारा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाना चाहिए। यदि सही मार्गदर्शन के अन्तर्गत ऐसा किया जाता है, तो विचलित मन भी निश्चित रूप से प्रगति कर सकता है।

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।

मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ।

पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; एक—एक-एक करके; अवयवम्—शरीर के अंगों को; ध्यायेत्—ध्यान करे; अव्युच्छिन्नेन—पूर्णस्वरूप से विचलित हुए बिना; चेतसा—मन से; मनः—मन; निर्विषयम्—विषयों से दूषित हुए बिना; युक्त्वा—जुड़ कर के; ततः—तत्पश्चात्; किञ्चन—कुछ भी; न—नहीं; स्मरेत्—सोचे; पदम्—व्यक्तित्व को; तत्—वह; परमम्—परम; विष्णोः—विष्णु का; मनः—मन; यत्र—जहाँ; प्रसीदति—प्रसन्न होता है, रमता है।

तत्पश्चात्, श्रीविष्णु के पूर्ण शरीर की अव-धारणा को हटाये बिना, एक-एक करके विष्णु के अंगों का ध्यान करना चाहिए। इस तरह मन समस्त इन्द्रिय-विषयों से मुक्त हो जाता है। तब चिन्तन के लिए कोई अन्य वस्तु नहीं रह जानी चाहिए। चूँकि भगवान् विष्णु परम सत्य हैं, अतएव केवल उन्हीं में मन पूर्ण रूप से रम जाता है।

तात्पर्य : विष्णु की बहिरंगा शक्ति से मोहित होकर मूर्ख लोग यह नहीं जान पाते कि सुख की लगातार खोज का चरम लक्ष्य भगवान् विष्णु का सान्निध्य प्राप्त करना है। विष्णुतत्त्व भगवान् के विभिन्न दिव्य स्वरूपों का असीम विस्तार है और विष्णुतत्त्व का परम या आदि स्वरूप, गोविन्द अथवा कृष्ण हैं, जो समस्त कारणों के कारण हैं। अतएव विष्णु का चिन्तन या विष्णु के दिव्य रूप का, विशेष रूप से कृष्ण का, ध्यान करना ध्यान की चरम सीमा है। यह ध्यान भगवान् के चरणकमल से शुरू किया जा सकता है। लेकिन मनुष्य को भगवान् के पूर्ण स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए। इस तरह उसे एक-एक करके, उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। इस श्लोक में यह निश्चित रूप से आश्वस्त किया गया है कि परब्रह्म निर्विशेष नहीं हैं। वे व्यक्ति तो हैं, किन्तु उनका

शरीर हम-जैसे बद्धजीवों से भिन्न है। अन्यथा पूर्ण आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के लिए शुकदेव गोस्वामी ने प्रणव (ॐकार) से लेकर विष्णु के साकार शरीर के अंग-प्रत्यंग के ध्यान की संस्तुति न की होती। भारत के भव्य मन्दिरों में श्रीविष्णु-विग्रहों की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग गलत अर्थ निकालते हैं, बल्कि ये मन्दिर श्रीविष्णु के दिव्य अंगों पर ध्यान लगाने के आध्यात्मिक केन्द्र हैं। श्रीविष्णु के मन्दिरों में भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् का पूजनीय विग्रह भगवान् से अभिन्न है। जैसा श्रीशुकदेव गोस्वामी ने, जो एक महान् अधिकारी हैं, अनुशंसा की है, कि जो व्यक्ति एक स्थान पर बैठकर प्रणव (ॐकार) का या विष्णु के अंगों का ध्यान नहीं कर सकते, उनके लिए मन्दिर में विष्णु के दिव्य अंगों का शास्त्र-रीति के अनुसार ध्यान करना, ध्यान का एक सुलभ अवसर है। जन-सामान्य को अ-उ-म् इन तीनों अक्षरों के दिव्य मेल से बने ॐकार की अपेक्षा मन्दिर में विष्णु के रूप का ध्यान करने से अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। यद्यपि ॐकार तथा विष्णु के रूपों में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु जो लोग परम सत्य के विज्ञान से अवगत नहीं होते, वे विष्णु के रूपों तथा ॐकार में अन्तर बताकर मतभेद उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। यहाँ यह संकेत दिया गया है कि विष्णु-रूप ही ध्यान का चरम लक्ष्य है। अतएव निर्विशेष ॐकार की अपेक्षा विष्णु के रूपों पर चित्त को एकाग्र करना श्रेयस्कर है। इनमें से पहली विधि दूसरे की अपेक्षा अधिक कठिन भी है।

**रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।**

**यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥ २० ॥**

**शब्दार्थ**

रजः—रजोगुण; तमोभ्याम्—तथा तमोगुण के द्वारा; आक्षिप्तम्—उद्धेलित; विमूढम्—मोहग्रस्त; मनः—मन; आत्मनः—अपना; यच्छेत्—सुधार ले; धारणया—(विष्णु की) धारणा से; धीरः—शान्त; हन्ति—नष्ट करता है; या—वे सब; तत्-कृतम्—उनके द्वारा की गई; मलम्—गंदी वस्तुओं को।

मनुष्य का मन सदैव रजोगुण द्वारा विचलित और तमोगुण द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है। किन्तु मनुष्य ऐसी धारणाओं को भगवान् विष्णु के सम्बन्ध द्वारा ठीक कर सकता है और इस तरह उनसे उत्पन्न गंदी वस्तुओं को स्वच्छ करके शान्त बन सकता है।

**तात्पर्य :** जो लोग सामान्यतया रजो तथा तमोगुणों द्वारा संचालित होते हैं, वे ईश्वरीय अनुभूति की दिव्य अवस्था प्राप्त करने के प्रामाणिक पात्र नहीं होते। सतोगुण द्वारा संचालित व्यक्ति ही परम सत्य के

ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। रजो तथा तमोगुण के प्रभाव कांचन तथा कामिनी के प्रति अत्यधिक लालसा के कारण प्रकट होते हैं। और जो लोग कांचन एवं कामिनी के पीछे पड़े रहते हैं वे अपनी मनोवृत्तियों को भगवान् विष्णु के शक्तिशाली निराकार स्वरूप का निरन्तर स्मरण करके सुधार सकते हैं। सामान्यतया निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ही रजो तथा तमोगुण से प्रभावित होते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी अपने को मुक्तात्मा समझते हैं, किन्तु वे परम सत्य के दिव्य साकार-स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं जानते। वस्तुतः ब्रह्म के साकार-स्वरूप विषयक ज्ञान से रहित होने के कारण उनका अन्तःकरण अशुद्ध रहता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सैकड़ों जन्मों के बाद, निर्विशेष चिन्तक भगवान् की शरण ग्रहण करता है। भगवान् के साकार-स्वरूप का साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए, नवदीक्षित निर्विशेषवादी को ब्रह्मवाद के दर्शन द्वारा प्रत्येक वस्तु के साथ भगवान् के सम्बन्ध की अनुभूति करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

अपनी उच्चतर अवस्था में ब्रह्मवाद किसी भी साधक को परम सत्य की निर्विशेष धारणा बनाने की अनुमति नहीं देता, अपितु यह परम सत्य की धारणा को तथाकथित भौतिक शक्ति के क्षेत्र तक विस्तारित करता है। भौतिक शक्ति द्वारा सृजित सारी वस्तुओं को सेवाभाव द्वारा ब्रह्म के साथ जोड़ा जा सकता है, जो जीवन शक्ति का अनिवार्य अंग है। भगवान् का शुद्ध भक्त, अपने इस सेवाभाव से प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक सत्ता में बदलने की कला से अवगत होता है और इसी भक्तिमय विधि से ब्रह्मवाद के सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान की जा सकती है।

**यस्यां सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्ति-लक्षणः ।**

**आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥ २१ ॥**

**शब्दार्थ**

यस्याम्—ऐसे सुनियोजित स्मरण से; सन्धार्यमाणायाम्—और इस तरह के अभ्यास में स्थिर होकर; योगिनः—योगीजन; भक्ति-लक्षणः—भक्तियोग का अभ्यास करके; आशु—शीघ्र; सम्पद्यते—सफलता प्राप्त करता है; योगः—भक्तिमयी सेवा से सम्बन्ध; आश्रयम्—शरण के अन्तर्गत; भद्रम्—कल्याण; ईक्षतः—देखते हुए।

हे राजन्, स्मरण की इस पद्धति से तथा भगवान् के कल्याणप्रद साकार-स्वरूप का दर्शन करने के अभ्यास में स्थिर होने से, मनुष्य भगवान् के प्रत्यक्ष आश्रय के अन्तर्गत उनकी भक्ति को शीघ्र ही प्राप्त कर सकता है।

**तात्पर्य :** योग की सिद्धियाँ भक्तिमयी प्रवृत्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं। ब्रह्मवाद, जो कि सर्वशक्तिमान की सर्वत्र उपस्थिति को अनुभव करने की पद्धति है, एक प्रकार का मन का प्रशिक्षण है, जिससे भक्तिमयी धारणा के प्रति अभ्यस्त हुआ जाता है और योगी को इसी भक्तिमयी प्रवृत्ति से ऐसे यौगिक प्रयासों की सफल परिणति संभव होती है। किन्तु भक्ति के रंचमात्र मिश्रण बिना, मनुष्य को ऐसा सफल पद प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मवाद की दृष्टि से जो भक्तिमय वातावरण उत्पन्न होता है, वह आगे चलकर भक्ति में विकसित हो जाता है और निर्विशेषवादी के लिए यही एकमात्र लाभ है। *भगवद्गीता* (१२.५) में पुष्टि हुई है कि आत्म-साक्षात्कार का निर्विशेष मार्ग अधिक कष्टप्रद है, क्योंकि यह घूमकर लक्ष्य तक पहुँचता है, यद्यपि निर्विशेषवादी भी काफी समय बाद भगवान् के साकार रूप के प्रति आकृष्ट होता है।

राजोवाच

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ।

यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनो-मलम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—सौभाग्यशाली राजा ने कहा; यथा—जिस तरह; सन्धार्यते—धारणा बनाई जाती है; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; धारणा—धारणा; यत्र—जहाँ तथा जैसे; सम्मता—संक्षेप में; यादृशी—जैसी; वा—अथवा; हरेत्—समूल नष्ट करता है; आशु—विलम्ब किये बिना; पुरुषस्य—व्यक्ति के; मनः—मन के; मलम्—मल को।

सौभाग्यशाली राजा परीक्षित ने आगे पूछा : हे ब्राह्मण, कृपा करके विस्तार से यह बतायें कि मन को कहाँ और कैसे लगाया जाये? और धारणा को किस तरह स्थिर किया जाय कि मनुष्य के मन का सारा मैल हटाया जा सके?

**तात्पर्य :** बद्धजीव के हृदय की सारी मलिनता ही उसके सारे कष्टों की जड़ है। बद्धजीव संसार के अनेक कष्टों से घिरा है, किन्तु अपने निपट अज्ञान के कारण वह इस भौतिक जगत में अपने दीर्घ बन्दी जीवन की अवधि में हृदय में संचित गंदगी (मल) को दूर करने में असमर्थ रहता है। वास्तव में वह परमेश्वर की इच्छानुसार सेवा करने के निमित्त आया होता है, किन्तु हृदय की गंदगी के कारण वह अपनी मनोकल्पित इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। ये इच्छाएँ उसे मनःशान्ति प्रदान करने के बजाय नई-नई समस्याएँ उत्पन्न करती रहती हैं और इस तरह उसे जन्म-मृत्यु के चक्र से बाँध देती हैं। सकाम



कर्म तथा ज्ञान का यह मल परमेश्वर की संगति करके ही दूर किया जा सकता है। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा अपना सान्निध्य प्रदान कर सकते हैं। अतएव जो लोग ब्रह्म के साकार स्वरूप में श्रद्धा दृढ़ नहीं कर पाते, उन्हें भगवान् के विराट रूप का सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है। भगवान् का विराट निर्विशेष स्वरूप उनकी असीम शक्तियों का स्वरूप है। चूँकि शक्तिमान तथा शक्ति अभिन्न हैं, अतएव उनके विराट स्वरूप की निर्विशेष धारणा भी बद्धजीव को अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने में सहायक होती है और इस तरह क्रमशः साकार सम्पर्क की अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

महाराज परीक्षित पहले से भगवान् श्रीकृष्ण के साकार स्वरूप से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े थे। अतएव उन्हें शुकदेव गोस्वामी से यह पूछने की आवश्यकता नहीं थी कि मन को कहाँ और कैसे ब्रह्म के निर्विशेष विराट रूप में लगाया जाय। किन्तु उन्होंने उन सबके लाभ के लिए इस विषय में विशद जिज्ञासा की, जो भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप के दिव्य साकार स्वरूप की कल्पना करने में असमर्थ हैं। अभक्त लोग भगवान् के साकार स्वरूप के विषय में सोच भी नहीं सकते। उनके अल्पज्ञान के कारण, राम या कृष्ण के साकार स्वरूप उनके लिए नितान्त क्रान्तिकारी हैं। उन्हें भगवान् की शक्ति का बहुत ही कम अनुमान होता है। *भगवद्गीता* (९.११) में स्वयं भगवान् ने यह बताया है कि अल्पज्ञ पुरुष, भगवान् को सामान्य व्यक्ति मानकर, उपहास करते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से अनजान रहते हैं। भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से, मानव-समाज में या जीवों के अन्य समाज में विचरण करते हुए भी अपने दिव्य पद से रंचमात्र हटे बिना वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। अतएव ऐसे व्यक्तियों के लाभ के लिए, जो भगवान् के साकार दिव्य स्वरूप को स्वीकार करने में असमर्थ हैं, महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि प्रारम्भ में मन को भगवान् पर किस तरह स्थिर किया जाय और गोस्वामीजी ने निम्नवत् उसका विस्तार से उत्तर दिया।

श्री-शुक उवाच

जितासनो जित-श्वासो जित-सङ्गो जितेन्द्रियः ।

स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्विया ॥ २३ ॥

### शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; जित-आसनः—संयमित आसन; जित-श्वासः—संयमित श्वास-क्रिया; जित-सङ्गः—संयमित संगति; जित-इन्द्रियः—संयमित इन्द्रियाँ; स्थूले—स्थूल पदार्थ में; भगवतः—भगवान् के; रूपे—स्वरूप में; मनः—मन को; सन्धारयेत्—लगाए; धिया—बुद्धि से।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : मनुष्य को चाहिए कि आसन को नियन्त्रित करे, यौगिक प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया को नियमित करे और इस तरह मन तथा इन्द्रियों को वश में करे। फिर बुद्धिपूर्वक मन को भगवान् की स्थूल शक्तियों ( विराट रूप ) में लगाये।

तात्पर्य : भौतिकता में निमग्न बद्धजीव का मन उसे देहात्मबुद्धि से ऊपर उठने नहीं देता, अतएव निपट भौतिकतावादी के चरित्र को ढालने के लिए ध्यान के योग-पद्धति ( आसन और श्वास प्रक्रिया को नियंत्रित करने तथा मन को परमेश्वर में स्थिर करने ) की संस्तुति की गई है। जब तक ऐसे भौतिकतावादी लोग भौतिकता में निमग्न मन को स्वच्छ नहीं बना लेते, तब तक उनके लिए आध्यात्मिक विचारों में मन को एकाग्र कर पाना असम्भव है। ऐसा करने के लिए अपने मन को भगवान् के स्थूल भौतिक या बाह्य स्वरूप में एकाग्र करना चाहिए। अगले श्लोक में भगवान् के विराट रूप के विभिन्न भागों का वर्णन किया गया है। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी नियमन-विधि के फलस्वरूप कुछ योग शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं, लेकिन यौगिक अनुष्ठानों का असली प्रयोजन संचित मल को—यथा वासना, क्रोध, ईर्ष्या तथा अन्य भौतिक कल्मषों को—दूर करना है। यदि योगी चमत्कारिक आसनों के प्रदर्शन में पड़ जाता है, तो उसकी यौगिक सफलता का लक्ष्य विफल हो जाता है, क्योंकि उसका परम ध्येय तो ईश-साक्षात्कार है। अतएव उसे भिन्न धारणा के द्वारा, अपने स्थूल भौतिकतावादी मन को स्थिर करने और इस तरह भगवान् की शक्ति की अनुभूति करने की संस्तुति की जाती है। ज्योंही ये शक्तियाँ अध्यात्म (योग) की नैमित्तिक अभिव्यक्तियाँ प्रतीत होने लगती हैं, तो वह स्वतः आगे बढ़ जाता है और क्रमशः उसके लिए पूर्ण अनुभूति की अवस्था प्राप्त कर पाना सम्भव हो जाता है।

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥ २४ ॥

### शब्दार्थ

विशेषः—साकार; तस्य—उसका; देहः—शरीर; अयम्—यह; स्थविष्ठः—स्थूल रूप से भौतिक; च—तथा; स्थवीयसाम्—समस्त पदार्थ का; यत्र—जहाँ; इदम्—ये सारे नियम; व्यज्यते—अनुभव किया जाता है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; भूतम्—विगत; भव्यम्—भविष्य; भवत्—वर्तमान; च—तथा; सत्—फलीभूत, परिणामी।

सम्पूर्ण व्यवहार-जगत की यह विराट अभिव्यक्ति परम सत्य का साक्षात् शरीर है, जिसमें ब्रह्माण्ड के भूत, वर्तमान एवं भविष्य का अनुभव किया जाता है।

तात्पर्य : कोई भी वस्तु, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, भगवान् की शक्ति का विस्तार मात्र है और जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.१३) में कहा गया है, सर्वशक्तिमान भगवान् की अपनी दिव्य आँखें, सिर तथा अन्य शारीरिक अंग होते हैं, जो सर्वत्र व्याप्त हैं। वे कहीं भी और सर्वत्र देख, सुन, छू या अपने को प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि वे समस्त सूक्ष्मजीवों में परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं, यद्यपि उनका विशेष धाम परम जगत में है। यह सापेक्ष जगत भी उनका व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण है, क्योंकि यह उनकी दिव्य शक्ति के विस्तार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यद्यपि वे अपने धाम में रहते हैं, किन्तु उनकी शक्ति सर्वत्र उसी तरह वितरित रहती है, जिस प्रकार सूर्य, स्थिर रहकर भी, सर्वत्र प्रसारित रहता है, क्योंकि सूर्य की किरणें सूर्य से अभिन्न होने के कारण सूर्य-गोलक का विस्तार ही मानी जाती है। *विष्णु पुराण* (१.२२.५२) में यह कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर, अपनी किरणें तथा उष्मा फैलाती है, उसी प्रकार परमात्मा या भगवान्, अपनी बहुविधि शक्ति से, सर्वत्र अपना विस्तार करते हैं। विराट ब्रह्माण्ड की यह अभिव्यक्ति उनके विराट शरीर का अंश मात्र है। अल्पज्ञ लोग भगवान् के सर्व-आध्यात्मिक दिव्य स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकते, लेकिन वे उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा उसी तरह आश्चर्यचकित रहते हैं, जिस तरह आदिम प्रजाति के लोग आकाश की बिजली, विशाल पर्वत या विस्तृत बरगद के पेड़ को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे लोग व्याघ्र तथा हाथी के बल की प्रशंसा उनकी श्रेष्ठ शक्ति तथा शौर्य के लिए करते हैं। यद्यपि शास्त्रों में भगवान् का विशद् विवरण दिया हुआ है, यद्यपि भगवान् अवतरित होते हैं और अपनी असामान्य शक्ति तथा शौर्य का प्रदर्शन करते हैं और यद्यपि वे विद्वान पण्डितों तथा भूतकाल के व्यासदेव, नारद, असित एवं देवल जैसे सन्तों तथा *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा एवं आधुनिक युग में भी शंकर, रामानुज, मध्व तथा भगवान् श्री चैतन्य जैसे आचार्यों के द्वारा, भगवान् के रूप में स्वीकार किये जाते हैं, लेकिन असुरगण भगवान् के अस्तित्व को नहीं मानते। असुरगण शास्त्रों के किसी भी साक्ष्य को स्वीकार नहीं

करते, न ही वे आचार्यों के प्रमाण को मान्यता देते हैं। वे तुरन्त अपनी आँखों से उन्हें देखना चाहते हैं, अतएव वे भगवान् के शरीर को विराट रूप में देख सकते हैं और वही रूप उनकी चुनौती का उत्तर दे सकता है और चूँकि वे व्याघ्र, हाथी या वज्र जैसी श्रेष्ठ भौतिक वस्तुओं के समक्ष श्रद्धावनत होने के आदी हैं, अतएव वे विराट रूप को सम्मान प्रदान करते हैं। अर्जुन द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान् कृष्ण ने असुरों के लिए विराट रूप प्रदर्शित किया। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के ऐसे संसारी विराट शरीर को देखने का आदी नहीं होता, अतएव इसे देखने के लिए उसे विशेष दृष्टि की आवश्यकता होती है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को विशेष दृष्टि प्रदान करने की अनुकम्पा की, जिससे वह उनके विराट रूप का दर्शन कर सके, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में किया गया है। भगवान् का यह विराट रूप अर्जुन के लाभ के लिए नहीं, अपितु उन अल्पज्ञ व्यक्तियों के लिए है, जो हर किसी को भगवान् का अवतार मान लेते हैं और इस तरह जनसामान्य को गुमराह करते रहते हैं। उनके लिए यह संकेत है कि मनुष्य ऐसे सस्ते अवतार से कहे कि तुम अपना विराट रूप दिखलाओ और अपने को अवतार सिद्ध करो। भगवान् के विराट रूप का प्राकट्य एकसाथ, नास्तिकों के लिए चुनौती तथा असुरों के लिए कृपा है, जो भगवान् को विराट समझ सकें और इस तरह धीरे-धीरे अपने हृदय के मल को स्वच्छ कर सकें, जिससे वे निकट भविष्य में भगवान् के दिव्य रूप को सचमुच देखने के योग्य हो सकें। यह समस्त नास्तिकों तथा निपट भौतिकतावादियों के लिए सर्वदयालु भगवान् का वरदान है।

**अण्ड-कोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरण-संयुते ।**

**वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥ २५ ॥**

**शब्दार्थ**

अण्ड-कोशे—ब्रह्माण्ड-रूपी खोल के भीतर; शरीरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; सप्त—सात; आवरण—आवरण, खोले; संयुते—ऐसा करके; वैराजः—विराट स्वरूप; पुरुषः—भगवान् के स्वरूप; यः—जो; असौ—वह; भगवान्—भगवान्; धारणा—धारणा का; आश्रयः—वस्तु, विषय।

भौतिक तत्त्वों के द्वारा सात प्रकार से प्रच्छन्न ब्रह्माण्डीय खोल ( आवरण ) रूपी शरीर के भीतर भगवान् का विराट ब्रह्माण्डीय स्वरूप विराट धारणा का विषय है।

**तात्पर्य :** एक ही समय में भगवान् के अन्य अनेक रूप होते हैं और वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण के

मूल स्रोत रूप से अभिन्न हैं। *भगवद्गीता* में यह सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् का आदि दिव्य तथा शाश्वत रूप श्रीकृष्ण हैं और वे अपनी अचिन्त्य अन्तरंगा शक्ति से अर्थात् आत्ममाया से, अपने आपको विविध रूपों तथा अवतारों में एकसाथ विस्तारित कर सकते हैं, लोभी उनकी पूर्णशक्ति में कोई कमी नहीं आती। वे पूर्ण हैं और यद्यपि उनसे असंख्य पूर्ण रूप उद्भूत होते हैं, तो भी वे पूर्ण हैं और उनमें किसी प्रकार की घटत नहीं आती। यह उनकी आध्यात्मिक या अन्तरंगा शक्ति है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने उन अल्पज्ञों को आश्चस्त करने के लिए अपना विराट रूप प्रकट किया, जो यह नहीं सोच पाते कि वे मनुष्य की भाँति प्रकट हो सकते हैं तथा उनमें वास्तव में वह शक्ति है, जिसके बल पर वे बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी के परम पुरुष होने का दम भर सकते हैं। यद्यपि भौतिकतावादी लोग अत्यन्त भोंड़े ढंग से विशाल ब्रह्माण्डीय आकाश के विषय में सोच सकते हैं जिसमें सूर्य के समान विशाल असंख्य लोक होते हैं, वे अपने ऊपर के वृत्ताकार आकाश को ही देख सकते हैं और उन्हें इस ब्रह्माण्ड की तथा इसी के साथ-साथ लाखों ब्रह्माण्डों की भी कोई जानकारी नहीं होती जो जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, प्रकृति तत्त्व तथा प्रकृति के सात आवरणों से ढके हैं जिस प्रकार एक बहुत बड़ा फुटबाल, जिसमें हवा भरी हो और ढका हो, कारणार्णव के जल पर तैर रहा हो, जहाँ *महाविष्णु* के रूप में भगवान् शयन करते हैं। सारे ब्रह्माण्ड बीज-रूप में *महाविष्णु* के श्वास से उद्भूत हो रहे हैं, जो भगवान् के अंश हैं। जब *महाविष्णु* अपना लम्बा श्वास भीतर खींचते हैं, तो ब्रह्मा द्वारा अधिष्ठित सारे ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान् की परम इच्छा द्वारा भौतिक जगत उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं। बेचारा, मूर्ख भौतिकतावादी इतनी ही कल्पना कर सकता है कि वह कितनी मूर्खतापूर्वक एक मरणधर्मा नगण्य जीव को दावे के साथ भगवान् के प्रतिद्वन्द्वी अवतार के रूप में प्रस्तुत करता है। यह विराट रूप, विशेष रूप से भगवान् द्वारा अल्पज्ञों को पाठ पढ़ाने के लिए, प्रकट किया गया था जिससे कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य को तभी भगवान् का अवतार स्वीकार करे जब वह ऐसे विराट रूप को उसी तरह प्रदर्शित कर सके जिस तरह भगवान् कृष्ण ने किया था। भौतिकतावादी व्यक्ति अपने निजी लाभ के लिए, जैसा शुकदेव गोस्वामी ने संस्तुति की है, भगवान् के विराट रूप पर अपने मन को केन्द्रित कर सकता है, किन्तु उसे सावधान रहना चाहिए कि वह उन

वंचकों से पथभ्रष्ट न हो जो अपने को भगवान् कृष्ण से अभिन्न पुरुष होने का दावा करते हैं, किन्तु वे उनकी तरह कर्म नहीं कर पाते या विराट रूप नहीं प्रदर्शित कर पाते।

पातालमेतस्य हि पाद-मूलं  
पठन्ति पार्थिव-प्रपदे रसातलम् ।  
महातलं विश्व-सृजोऽथ गुल्फौ  
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

पातालम्—ब्रह्माण्ड के अधोलोक; एतस्य—उन्का; हि—निश्चय ही; पाद-मूलम्—पाँवों के तलवे; पठन्ति—वे अध्ययन करते हैं; पार्थिव—एड़ियाँ; प्रपदे—पंजे; रसातलम्—रसातल नाम का लोक; महातलम्—महातल नामक लोक; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा का; अथ—इस प्रकार; गुल्फौ—टखने; तलातलम्—तलातल नामक लोक; वै—वे जैसे हैं; पुरुषस्य—विराट पुरुष की; जङ्घे—पिंडलियाँ।

जिन पुरुषों ने इसकी अनुभूति की है, उन्होंने यह अध्ययन किया है कि पाताल लोक विराट पुरुष के पाँवों के तलवे हैं तथा उनकी एड़ियाँ और पंजे रसातल लोक हैं। टखने महातल लोक हैं तथा उनकी पिंडलियाँ तलातल लोक हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शरीर के अतिरिक्त इस दृश्य जगत के अस्तित्व में कोई सचाई नहीं है। व्यक्त जगत की प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आधारित है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में की गई है, किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं होता है कि भौतिकतावादी की दृष्टि से जो भी दिखता है, वही परम पुरुष है। भगवान् के विराट रूप की धारणा भौतिकतावादी को परमेश्वर के विषय में सोचने का अवसर प्रदान करती है, किन्तु भौतिकतावादी को यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि प्रभुता दिखाने की भावना रखते हुए जगत की कल्पना करना कभी भी ईश-साक्षात्कार नहीं हो सकता। भौतिक संसाधनों के शोषण का भौतिकतावादी दृष्टिकोण भगवान् की बहिरंगा शक्ति के भ्रम के कारण होता है, अतएव यदि कोई भगवान् के विराट रूप की धारणा से परम सत्य की अनुभूति करना चाहता है, तो उसे सेवा-भाव उत्पन्न करना होगा। सेवा-भाव उत्पन्न किये बिना, दर्शक पर विराट साक्षात्कार की धारणा का नगण्य प्रभाव पड़ेगा। दिव्य भगवान् के स्वरूप की कोई धारणा भौतिक सृष्टि का अंग नहीं होती। वे सम्पूर्ण परिस्थितियों में अपनी सत्ता को परमात्मा रूप में बनाये रखते हैं और तीनों भौतिक गुणों से कभी भी प्रभावित नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक भौतिक वस्तु कल्मषग्रस्त है। भगवान् सदैव अपनी

अन्तरंगा शक्ति के बल पर विद्यमान रहते हैं।

यह ब्रह्माण्ड चौदह लोकों में विभक्त है। इनमें से सात लोक, जिनके नाम् भूर, भुवर, स्वर, महर, जनस्, तपस् तथा सत्य हैं, ऊर्ध्वलोक कहलाते हैं और वे एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इसी तरह सात अधोलोक हैं, जो अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल कहलाते हैं और क्रमशः एक दूसरे के नीचे हैं। इस श्लोक में नीचे से वर्णन प्रारम्भ होता है, क्योंकि भक्ति के अनुसार, भगवान् का शारीरिक वर्णन उनके पाँवों से प्रारम्भ करना चाहिए। शुकदेव गोस्वामी भगवान् के मान्य भक्त हैं और उनका यह वर्णन एकदम सही है।

द्वे जानुनी सुतलं विश्व-मूर्ते-

रुरु-द्वयं वितलं चातलं च ।

महीतलं तज्जघनं महीपते

नभस्तलं नाभि-सरो गृणन्ति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

द्वे—दो; जानुनी—घुटने; सुतलम्—सुतल नामक लोक; विश्व-मूर्ते:—विराट रूप के; रुरु-द्वयम्—दोनों जाँघें; वितलम्—वितल लोक; च—भी; अतलम्—अतल लोक; च—तथा; महीतलम्—महातल लोक; तत्—उसका; जघनम्—कटि-प्रदेश; महीपते—हे राजा; नभस्तलम्—बाह्य अन्तरिक्ष; नाभि-सरः—नाभि का गड्ढा; गृणन्ति—कहते हैं।

विश्व-रूप के घुटने सुतल नामक लोक हैं तथा दोनों जाँघें वितल तथा अतल लोक हैं।

कटि-प्रदेश महीतल है और उसकी नाभि का गड्ढा बाह्य अन्तरिक्ष है।

उरः-स्थलं ज्योतिरनीकमस्य

ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।

तपो वराटीं विदुरादि-पुंसः

सत्यं तु शीर्षाणि सहस्र-शीर्षाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

उरः—उच्च; स्थलम्—स्थान ( छाती ); ज्योतिः-अनीकम्—ज्योतिष्क; अस्य—उसकी; ग्रीवा—गर्दन; महः—ज्योतिष्कों के ऊपर का लोक; वदनम्—मुख; वै—ठीक उसी तरह; जनः—इस लोक के ऊपर का लोक; अस्य—उनका; तपः—जनः लोक के ऊपर का लोक; वराटीम्—मस्तक; विदुः—जाना जाता है; आदि—मूल; पुंसः—पुरुष; सत्यम्—सर्वोच्च लोक; तु—लेकिन; शीर्षाणि—शिरः; सहस्र—एक हजार; शीर्षाः—शिरों से युक्त।

विराट रूप वाले आदि पुरुष की छाती ज्योतिष्क ( स्वर्ग ) लोक है, उसकी गर्दन महर्लोक है, उसका मुख जनःलोक है और उसका मस्तक तपःलोक है। सर्वोच्च लोक, जिसे सत्यलोक

कहते हैं, एक हजार सिरों ( मस्तिष्कों ) वाले उनआदि पुरुष का सिर है।

**तात्पर्य :** सूर्य तथा चन्द्रमा जैसे तेजवान ज्योतिर्लोक ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित हैं, अतएव वे भगवान् के आदि विराट रूप के वक्षःस्थल कहलाते हैं। इस ज्योतिर्लोक के ऊपर जिसे देवताओं का राज्य या स्वर्गलोक भी कहते हैं, महः, जनः तथा तपः लोक हैं और सबके ऊपर सत्य लोक है, जहाँ प्रकृति के समस्त गुणों के मुख्य निर्देशक अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव निवास करते हैं। ये विष्णु क्षीरोदकशायी विष्णु कहलाते हैं और ये सभी जीवों में परमात्मा की भाँति कार्य करते हैं। कारणार्णव में असंख्य ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं और इनसब में भगवान् के विराट रूप का प्रतिनिधित्व, असंख्य सूर्यों, चन्द्रमाओं, देवताओं, ब्रह्माओं, विष्णुओं तथा शिवों के रूप में होता है और ये सभी भगवान् कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के एक अंश में स्थित हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.४२) में कहा गया है।

**इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्त्राः**

**कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।**

**नासत्य-दस्त्रौ परमस्य नासे**

**घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥ २९ ॥**

**शब्दार्थ**

इन्द्र-आदयः—स्वर्ग के राजा इन्द्र इत्यादि देवता; बाहवः—बाँहें; आहुः—कहलाते हैं; उस्त्राः—देवता; कर्णौ—कान; दिशः—चारों दिशाएँ; श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रियाँ; अमुष्य—भगवान् की; शब्दः—ध्वनि; नासत्य-दस्त्रौ—अश्विनी कुमार नामक देवता; परमस्य—परम के; नासे—नथुने; घ्राणः—सुगंधि की इन्द्रिय; अस्य—उसका; गन्धः—सुगन्धि; मुखम्—मुँह; अग्निः—अग्नि; इद्धः—प्रज्वलित।

इन्द्र इत्यादि देवता उस विराट पुरुष की बाँहें हैं, दसों दिशाएँ उसके कान हैं और भौतिक ध्वनि उसकी श्रवणेन्द्रिय है। दोनों अश्विनीकुमार उसके नथने हैं तथा भौतिक सुगंध उसकी घ्राणेन्द्रिय है। उसका मुख प्रज्वलित अग्नि है।

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में दिये गये भगवान् के विराट रूप का वर्णन यहाँ पर श्रीमद्भागवत् में विस्तार से दिया गया है। *भगवद्गीता* (११.३०) में इस प्रकार वर्णन है, “हे विष्णु! मैं देख रहा हूँ कि आप अपने प्रज्वलित मुख में सब को निगले जा रहे हैं और समूचे ब्रह्माण्ड को अपनी असह्य किरणों की लपेट में ले रहे हैं। आप समस्त जगत को झुलसाते हुए अपने को व्यक्त कर रहे हैं।” इस तरह *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* के जिज्ञासु के लिए, स्नातकोत्तर अध्ययन का विषय है।



दोनों ही परम सत्य कृष्ण के विज्ञान हैं, अतएव ये अन्योन्याश्रित हैं।

परमेश्वर के विराट पुरुष की अवधारणा में समस्त अधिपति देवता तथा अधिशासित जीव सम्मिलित हैं। जीव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी भगवान् के शक्त्यावेशित दूत द्वारा नियन्त्रित रहता है। चूँकि भगवान् के विराट रूप में देवता भी सन्निहित रहते हैं, अतएव भगवान् की पूजा, चाहे उनके विराट भौतिक रूप में की जाय या भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में उनके शाश्वत दिव्य रूप में की जाय, वह देवताओं तथा अन्य अंशों को भी प्रसन्न करनेवाली होती है, जिस प्रकार कि वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वृक्ष के अन्य सभी भागों को शक्ति मिलती है। फलस्वरूप यदि भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के विश्व विराट रूप की पूजा करता है, तो वह सन्मार्ग पर अग्रसर होता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक देवताओं के पास जाकर दिग्भ्रमित न हो। वास्तविक सत्ता तो साक्षात् भगवान् हैं, अन्य सभी काल्पनिक हैं क्योंकि सारी वस्तुएँ केवल भगवान् में सन्निविष्ट हैं।

**द्वौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः**

**पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।**

**तद्भ्रू-विजृम्भः परमेष्ठि-धिष्य-**

**मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥ ३० ॥**

**शब्दार्थ**

द्वौः—अन्तरिक्ष; अक्षिणी—नेत्र-गोलक; चक्षुः—आँखों के; अभूत्—ऐसा हुआ; पतङ्गः—सूर्य; पक्ष्माणि—पलकें; विष्णोः—भगवान् श्री विष्णु की; अहनी—दिन तथा रात; उभे—दोनों; च—तथा; तत्—उसका; भ्रू—भौहें; विजृम्भः—गतियाँ; परमेष्ठि—सर्वोपरि जीव ( ब्रह्मा ); धिष्यम्—पद; आपः—वरुण, जल का स्वामी; अस्य—उसका; तालू—तालु; रसः—रस; एव—निश्चय ही; जिह्वा—जीभ।

बाह्य अन्तरिक्ष उसकी आँखों के गड्डे हैं तथा देखने की शक्ति के लिए सूर्य नेत्र-गोलक हैं। दिन तथा रात पलकें हैं और उसकी भृकुटि की गतियों में ब्रह्मा तथा अन्य महापुरुषों का निवास होता है। जल का अधीश्वर वरुण उसका तालु तथा सभी वस्तुओं का रस या सार उसकी जीभ है।

**तात्पर्य :** सामान्य ज्ञान के अनुसार इस श्लोक का वर्णन विरोधाभाषी प्रतीत होता है, क्योंकि सूर्य को कभी नेत्र-गोलक कहा गया है, तो कभी बाह्य अन्तरिक्ष। लेकिन शास्त्रों के आदेश में सामान्य ज्ञान

का स्थान नहीं होता। हमें इन आदेशों को स्वीकार करना चाहिए और सामान्य ज्ञान पर केन्द्रित न रहकर विराट रूप में एकाग्र चित्त होना चाहिए। सामान्य ज्ञान सदैव अधूरा होता है, जबकि शास्त्रों का वर्णन सदा पूर्ण होता है। यदि कोई दोष होता है, तो वह हमारी अपूर्णता के कारण होता है, शास्त्रों के कारण नहीं। वैदिक ज्ञान प्राप्त करने की यही विधि है।

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति

दंष्ट्रा यमः स्नेह-कला द्विजानि ।

हासो जनोन्माद-करी च माया

दुरन्त-सर्गो यदपाङ्ग-मोक्षः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वैदिक स्तोत्र; अनन्तस्य—परमेश्वर के; शिरः—मस्तक; गृणन्ति—उनका कहना है; दंष्ट्रा:—दाढ़ें; यमः—यमराज, जो पापियों का निदेशक है; स्नेह-कला:—स्नेह करने की कला; द्विजानि—दाँत; हासः—मुस्कान; जन-उन्माद-करी—अत्यन्त मोहक; च—भी; माया—भ्रामिका शक्ति; दुरन्त—अजेय; सर्गः—भौतिक सृष्टि; यत्-अपाङ्ग—जिसकी चितवन; मोक्षः—विक्षेप।

वे कहते हैं कि वैदिक स्तोत्र भगवान् के मस्तक हैं और मृत्यु का देवता तथा पापियों को दण्ड देनेवाला यम उनकी दाढ़ें हैं। स्नेह की कला ही उनके दाँत हैं और सर्वाधिक मोहिनी माया ही उनकी मुस्कान है। यह भौतिक सृष्टि रूपी महान् सागर उनकी चितवन स्वरूप है।

तात्पर्य : वेदों के अनुसार यह भौतिक सृष्टि भौतिक शक्ति पर भगवान् के दृष्टिपात का प्रतिफल है, जिसे यहाँ पर अत्यन्त मोहिनी माया के रूप में बताया गया है। ऐसे बद्धजीव, जो ऐसी भौतिकता के द्वारा आकृष्ट होते हैं, उन्हें जान लेना चाहिए कि भौतिक नश्वर सृष्टि वास्तविकता का अनुकरणमात्र है और जो लोग भगवान् की ऐसी आकर्षक चितवन से मोहित हैं, वे पापियों के नियन्त्रक यमराज के नियन्त्रण में रख दिये जाते हैं। भगवान् जब स्नेह से हँसते हैं, तो उनके दाँत दिखते हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् के विषय में इस सचाई को ग्रहण करता है, वह उनका शरणागत हो जाता है।

व्रीडोत्तरौष्ठोऽधर एव लोभो

धर्मः स्तनोऽधर्म-पथोऽस्य पृष्ठम् ।

कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ

कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थि-सङ्घाः ॥ ३२ ॥

### शब्दार्थ

ब्रीड—लज्जा; उत्तर—ऊपरी; ओष्ठः—होंठ; अधरः—तुडुड़ी; एव—निश्चय ही; लोभः—लालसा; धर्मः—धर्म; स्तनः—वक्षस्थल; अधर्म—अधर्म; पथः—मार्ग; अस्य—उसका; पृष्ठम्—पीठ; कः—ब्रह्मा; तस्य—उसकी; मेढ्रम्—जननेन्द्रिय; वृषणौ—अण्डकोश; च—भी; मित्रौ—मित्रावरुण; कुक्षिः—कमर, कोख; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पर्वत; अस्थि—हड्डियाँ; सङ्गाः—समूह।

लज्जा भगवान् का ऊपरी होठ है, लालसा उनकी तुडुड़ी है, धर्म उनका वक्षःस्थल तथा अधर्म उनकी पीठ है। भौतिक जगत में समस्त जीवों के जनक ब्रह्मा जी उनकी जननेन्द्रिय ( लिंग ) हैं और मित्रा-वरुण उनके दोनों अण्डकोश हैं। सागर उनकी कमर है और पर्वत उनकी अस्थियों के समूह हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर निर्विशेष नहीं हैं, जैसाकि अल्पज्ञ विचारक सोचा करते हैं। प्रत्युत वे परम पुरुष हैं, जिसकी पुष्टि समस्त प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों द्वारा होती है। लेकिन उनका व्यक्तित्व वैसा नहीं है जैसा हम अनुमान लगा सकते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि ब्रह्माजी उनकी जननेन्द्रियों का कार्य करते हैं तथा मित्रावरुण उनके दो अण्डकोश हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष के रूप में वे समस्त शारीरिक अवयवों से पूर्ण हैं, लेकिन वे भिन्न प्रकार के तथा विभिन्न शक्तियों वाले हैं। अतएव जब भगवान् को निर्विशेष रूप में वर्णित किया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि उनका स्वरूप हमारी अपूर्ण कल्पना के ही समरूप नहीं है। किन्तु मनुष्य चाहे तो पर्वतों या समुद्रों तथा आकाश को विराट पुरुष का अंश मानकर उनकी पूजा कर सकता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो विराट रूप प्रदर्शित किया, वह आस्थाहीनों के लिए एक चुनौती है।

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनू-रुहाणि

मही-रुहा विश्व-तनोर्नृपेन्द्र ।

अनन्त-वीर्यः श्वसितं मातरिश्वा

गतिर्वयः कर्म गुण-प्रवाहः ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; अस्य—उसकी; नाड्यः—नाडियाँ, नसें; अथ—तत्पश्चात्; तनू-रुहाणि—शरीर के बाल; मही-रुहाः—पेड़-पौधे; विश्व-तनोः—विश्व-रूप का; नृप-इन्द्र—हे राजा; अनन्त-वीर्यः—सर्व-शक्तिमान; श्वसितम्—श्वास-क्रिया; मातरिश्वा—वायु; गतिः—गति; वयः—व्यतीत होती आयु; कर्म—कर्म; गुण-प्रवाहः—प्रकृति के गुणों की प्रतिक्रियाएँ।

हे राजन्, नदियाँ उस विराट शरीर की नसें हैं, वृक्ष रोम हैं और सर्वशक्तिमान वायु उनकी श्वास है। व्यतीत होते हुए युग उनकी गति तथा प्रकृति के तीनों गुणों की प्रतिक्रियाएँ ही उनके

कार्यकलाप हैं।

तात्पर्य : भगवान् न तो जड़ पत्थर हैं, न ही निष्क्रिय हैं, जैसाकि कुछ विचारधारा वाले हैं। वे समय के साथ गतिशील हैं, अतएव वे अपने वर्तमान कार्यकलापों के साथ-साथ भूत तथा भविष्य के विषय में भी सब कुछ जानते हैं। उनसे कुछ भी अनजान नहीं रहता है। बद्धजीव प्रकृति के गुणों की प्रतिक्रियाओं द्वारा इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं और ये ही भगवान् के कार्यकलाप हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१२) में कहा गया है, प्रकृति के गुण उन्हीं की निर्देशन में कार्य करते हैं, अतएव कोई भी प्राकृतिक कार्य न तो निरुद्देश्य होता है, न ही स्वचालित। सारे कार्यकलापों के पीछे भगवान् की अध्यक्षता की शक्ति कार्य करती है। इस तरह भगवान् कभी निष्क्रिय नहीं होते, जैसाकि भ्रमवश सोचा जाता है। वेदों का कथन है कि परमेश्वर को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, जैसाकि श्रेष्ठजनों के साथ होता है, लेकिन सृष्टि के सारे कार्य उन्हीं की अध्यक्षता में सम्पन्न होते हैं। जैसा कहा जाता है कि उनकी स्वीकृति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में कहा गया है कि सारे ब्रह्माण्ड तथा इनके अधीश्वर (ब्रह्मा), उनके श्वास लेने की अवधि तक ही बने रहते हैं। यहाँ पर इसी की पुष्टि की गई है। ब्रह्माण्डों के भीतर जिस वायु में सारे ब्रह्माण्ड तथा लोक स्थित हैं, वह अतर्क्य विराट पुरुष की श्वास का अंश मात्र है। अतएव मनुष्य नदियों, वृक्षों, वायु तथा बीतने वाले युगों के अध्ययन द्वारा भी भगवान् की निर्विशेष धारणा से दिग्भ्रमित न होकर भगवान् की सही धारणा बना सकता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि जो परम सत्य के निर्विशेष रूप के प्रति आकृष्ट हैं, वे भगवान् के सगुण स्वरूप के उपासकों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाते हैं।

ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्

वासस्तु सन्ध्यां कुरु-वर्य भूमनः ।

अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च

स चन्द्रमाः सर्व-विकार-कोशः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ईशस्य—परम नियन्ता के; केशान्—सिर के बाल; विदुः—तुम मुझसे जान लो; अम्बु-वाहान्—जल ले जाने वाले बादल; वासः तु—वस्त्र; सन्ध्याम्—दिन तथा रात्रि का सन्धि-काल; कुरु-वर्य—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; भूमनः—सर्वशक्तिमान का; अव्यक्तम्—भौतिक सृष्टि का आदि कारण; आहुः—कहा जाता है; हृदयम्—बुद्धि; मनः च—तथा मन; सः—वह; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; सर्व-विकार-कोशः—समस्त परिवर्तनों का आगार।

हे कुरुश्रेष्ठ, जल ले जानेवाले बादल उनके सिर के बाल हैं, दिन या रात्रि की सन्धियाँ ही उनके वस्त्र हैं तथा भौतिक सृष्टि का परम कल्याण ही उनकी बुद्धि है। चन्द्रमा ही उनका मन है, जो समस्त परिवर्तनों का आगार है।

विज्ञान-शक्तिं महिमामनन्ति

सर्वात्मनोऽन्तः-करणं गिरित्रम् ।

अश्वाश्चतुर्युष्ट्र-गजा नखानि

सर्वे मृगाः पशवः श्रोणि-देशे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान-शक्तिम्—चेतना; महिम्—पदार्थ का सिद्धान्त; आमनन्ति—वे ऐसा कहते हैं; सर्व-आत्मनः—सर्व-व्यापी का; अन्तः-करणम्—अहंकार; गिरित्रम्—रुद्र ( शिव ); अश्व—घोड़ा; अश्वतरि—खच्चर; युष्ट्र—ऊँट; गजाः—हाथी; नखानि—नाखून; सर्वे—अन्य सब; मृगाः—हिरन; पशवः—चौपाये; श्रोणि-देशे—कटि-प्रदेश में।

पदार्थ का सिद्धान्त ( महत्-तत्त्व ) सर्वव्यापी भगवान् की चेतना है, जैसा कि विद्वानों ने बल देकर कहा है तथा रुद्रदेव उनका अहंकार है। घोड़ा, खच्चर, ऊँट तथा हाथी उनके नाखून हैं तथा जंगली जानवर और सारे चौपाये भगवान् के कटि-प्रदेश में स्थित हैं।

वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं

मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।

गन्धर्व-विद्याधर-चारणाप्सरः

स्वर-स्मृतीरसुरानीक-वीर्यः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

वयांसि—विभिन्न प्रकार के पक्षी; तत्-व्याकरणम्—शब्दावली; विचित्रम्—कलात्मक; मनुः—मनुष्यों के पिता; मनीषा—विचार; मनुजः—मानव जाति ( मनु-पुत्र ); निवासः—निवास; गन्धर्व—गन्धर्व नामक मनुष्य; विद्याधर—विद्याधर; चारण—चारण; अप्सरः—देवदूत; स्वर—संगीतात्मक स्वर-लहरी; स्मृतीः—स्मृति; असुर-अनीक—आसुरी सैनिक; वीर्यः—शक्ति।

विभिन्न प्रकार के पक्षी उनकी दक्ष कलात्मक रुचि के सूचक हैं। मानवजाति के पिता, मनु, उनकी आदर्श बुद्धि के प्रतीक हैं और मानवता उनका निवास है। गन्धर्व, विद्याधर, चारण तथा देवदूत जैसी दैवी योनियाँ उनके संगीत की स्वर-लहरी को व्यक्त करती हैं और आसुरी सैनिक उनकी अद्भुत शक्ति के प्रतिरूप हैं।

तात्पर्य : भगवान् का सौन्दर्य-बोध मोर, तोता तथा कोयल जैसे विविध पक्षियों की कलात्मक रंगबिरंगी सृष्टि से प्रकट होता है। गन्धर्व तथा विद्याधर जैसी दैवी मानवी योनियाँ आश्चर्यजनक गायन

करती हैं और स्वर्ग के देवताओं के मन को भी मोहित कर लेती हैं, जो उनकी संगीत लहरी भगवान् का संगीत-बोध व्यक्त करती है। तो वे निर्विशेष कैसे हो सकते हैं? उनकी संगीत रुचि, कलात्मक बोध तथा आदर्श एवं विफल न होनेवाली बुद्धि उनके परम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण हैं। मनु संहिता मानवता के लिए आदर्श विधि ग्रन्थ है और प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक ज्ञान के इस महान् ग्रन्थ का पालन करना होता है। मानव समाज भगवान् का आवास है। इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य ईश-साक्षात्कार एवं ईश्वर की संगति के लिए है। यह जीवन, बद्धजीव के लिए अपनी नित्य ईश-चेतना को पुनः प्राप्त करने के लिए, एक सुअवसर होता है, जिससे वह जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सके। महाराज प्रह्लाद असुरों के कुल में भगवान् के सही प्रतिनिधि हैं। कोई भी जीव भगवान् के विराट शरीर से दूर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का परम शरीर के प्रति विशेष कर्तव्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति को दिए गए इस विशेष कर्तव्य को पूरा कर पाने में व्यवधान पड़ने से जीवों के बीच वैमनस्य आता है, किन्तु जब परमेश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो समस्त जीवों में, यहाँ तक कि जंगली पशुओं में तथा मानव समाज में, पूर्ण एकता हो जाती है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस सजीव एकता का प्रदर्शन मध्यप्रदेश के जंगल में किया, जहाँ व्याघ्र, हाथी तथा अन्य हिंसक पशुओं ने परमेश्वर के यशोगान में पूर्ण सहयोग दिखलाया। सारे विश्व में शान्ति तथा एकता का यही मार्ग है।

**ब्रह्माननं क्षत्र-भुजो महात्मा**

**विदूरुरङ्घ्रि-श्रित-कृष्ण-वर्णः ।**

**नानाभिधाभीज्य-गणोपपन्नो**

**द्रव्यात्मकः कर्म वितान-योगः ॥ ३७ ॥**

**शब्दार्थ**

ब्रह्म—ब्राह्मण; आननम्—मुख; क्षत्र—क्षत्रिय; भुजः—बाँहें; महात्मा—विराट पुरुष; विट्—वैश्य; ऊरुः—जाँघें; अङ्घ्रि-श्रित—उनके चरणों की छाया में; कृष्ण-वर्णः—शूद्र; नाना—विविध; अभिधा—नामों से; अभीज्य-गण—देवता; उपपन्नः—निहित; द्रव्य-आत्मकः—उपलब्ध वस्तुओं से; कर्म—कर्म; वितान-योगः—यज्ञ का सम्पन्न होना।

विराट पुरुष का मुख ब्राह्मण है, उनकी भुजाएँ क्षत्रिय हैं, उनकी जाँघें वैश्य हैं तथा शूद्र उनके चरणों के संरक्षण में हैं। सारे पूज्य देवता उनमें सन्निहित हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यथासम्भव वस्तुओं से यज्ञसम्पन्न करे।

**तात्पर्य :** यहाँ पर एक प्रकार से एकेश्वरवाद का सुझाव रखा गया है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में

विभिन्न नामों से अनेक देवताओं को आहुति प्रदान करने का उल्लेख है, किन्तु इस श्लोक में यह सुझाव है कि वे सभी देवता भगवान् के रूप में निहित हैं। वे आदि पूर्ण के अंशमात्र हैं। इसी प्रकार से मानव समाज के विभिन्न वर्ण—यथा ब्राह्मण (प्रबुद्ध जाति), क्षत्रिय (प्रशासक), वैश्य (व्यापारिक जाति) तथा शूद्र (श्रमिक जाति)—परमेश्वर के शरीर में सन्निविष्ट हैं। अतएव इन सबों को उपलब्ध वस्तुओं से भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करने की संस्तुति की गई है। सामान्यतया घी तथा अन्न की आहुति दी जाती है, किन्तु समय की प्रगति के साथ मानव समाज ने ईश्वर की भौतिक प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को, तरह-तरह के सामानों में बदल करके, अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर दी हैं। अतएव मानव समाज को, न केवल घी से आहुति देनी सीखना चाहिए, अपितु भगवान् के यज्ञ के प्रसार हेतु अन्य तैयार सामानों से भी आहुति देनी चाहिए। इससे मानव समाज में पूर्णता आयेगी। ऐसे यज्ञों के लिए बुद्धिमान जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मण, पूर्ववर्ती आचार्यों से सलाह करके, निर्देश दे सकते हैं। प्रशासक वर्ग ऐसे यज्ञों के सम्पन्न किये जाने की सारी सुविधाएँ प्रदान कर सकता है, वैश्य वर्ग या व्यापारिक जाति, जो ऐसे सामान उत्पन्न करती है, जिसे यज्ञ में अर्पित कर सकते हैं और शूद्र वर्ग ऐसे यज्ञ को सफलता से सम्पन्न करने के लिए शारीरिक श्रम प्रदान कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य जाति के सारे वर्गों के सहयोग से, इस युग में जिस यज्ञ की संस्तुति की जाती है, वह अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन है, जिसको मानव जाति के कल्याण हेतु विश्व भर में सम्पन्न किया जा सकता है।

### इयानसावीश्वर-विग्रहस्य

यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।

सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे

मनः स्व-बुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥ ३८ ॥

### शब्दार्थ

इयान्—ये सब; असौ—वह; ईश्वर—परमेश्वर के; विग्रहस्य—स्वरूप का; यः—जो कुछ; सन्निवेशः—जिस तरह वे स्थित हैं; कथितः—कहा गया; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; सन्धार्यते—एकाग्र कर सकता है; अस्मिन्—इसमें; वपुषि—विराट स्वरूप में; स्थविष्ठे—स्थूल में; मनः—मन; स्व-बुद्ध्या—अपनी बुद्धि से; न—नहीं; यतः—उससे परे; अस्ति—है; किञ्चित्—कुछ भी।

इस प्रकार मैंने आपको भगवान् के स्थूल भौतिक विराट स्वरूप की अवधारणा का वर्णन

किया। जो व्यक्ति सचमुच मुक्ति की इच्छा करता है, वह भगवान् के इस स्वरूप पर अपने मन को एकाग्र करता है, क्योंकि भौतिक जगत में इससे अधिक कुछ भी नहीं है।

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि प्रकृति तो उनकी आदेशवाहिका है। वह भगवान् की विभिन्न शक्तियों में से एक है और केवल उन्हीं के आदेशानुसार कार्य करती है। वे परम दिव्य भगवान् के रूप में भौतिक तत्त्व पर केवल दृष्टिपात करते हैं; इस तरह पदार्थ का विक्षोभ प्रारम्भ होता है और परिणाम-स्वरूप जो कार्य होते हैं, वे क्रमशः छह प्रकार के भेदों के रूप में प्रकट होते हैं। सारी भौतिक सृष्टि इसी प्रकार से गतिशील है और कालक्रम में यह प्रकट और लुप्त होती रहती है।

जो अल्पज्ञ हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण की उस अचिन्त्य शक्ति की भावना को आत्मसात् नहीं कर पाते, जिसके द्वारा वे मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं (*भगवद्गीता* ९.११)। इस संसार में हमारे ही जैसे रूप में उनका अवतरित होना भी पतित आत्माओं पर उनकी अहैतुकी कृपा का फल है। वे समस्त भौतिक धारणाओं से ऊपर हैं, किन्तु अपने शुद्ध भक्तों पर असीम कृपा के कारण वे अवतरित होते हैं और साक्षात् भगवान् के रूप में प्रकट होते हैं। भौतिकतावादी चिन्तक तथा वैज्ञानिक परमाणु शक्ति तथा विश्व-रूप की विराटता में ही अत्यधिक उलझे रहते हैं और इस जगत के आध्यात्मिक तात्त्विक सिद्धान्त की अपेक्षा बाह्य व्यवहार-पक्ष को अधिक मान्यता देते हैं। भगवान् का दिव्य रूप ऐसे भौतिकतावादी कार्यकलापों की सीमा के बाहर है और यह सोच पाना अत्यन्त कठिन है कि भगवान् एक ही साथ अन्तर्यामी तथा सर्वव्यापी हैं, क्योंकि भौतिकतावादी चिन्तक तथा वैज्ञानिक हर बात को अपने निजी अनुभव के आधार पर सोचते हैं। चूँकि वे भगवान् के साकार रूप को नहीं समझ पाते, अतएव भगवान् सदय होकर उन्हें अपना विराट रूप प्रदर्शित करते हैं और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यहाँ भगवान् के इस स्वरूप का विशद् वर्णन किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् के इस विराट रूप के परे कुछ भी नहीं है। कोई भी भौतिकतावादी विचारवान व्यक्ति इस विराट रूप की धारणा से आगे नहीं जा सकता। भौतिकतावादी व्यक्तियों के मन चलायमान हैं और वे निरंतर एक पहलू से दूसरे की ओर बदलते रहते हैं। अतएव मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह उनके



विराट शरीर के किसी एक अंग का चिन्तन करे और केवल अपनी बुद्धि से ही भौतिक जगत की किसी भी अभिव्यक्ति का चिन्तन कर सकता है—यथा जंगल, पहाड़, समुद्र, मनुष्य, पशु, देवता, पक्षी, पशु या अन्य कुछ। भौतिक अभिव्यक्ति की प्रत्येक वस्तु विराट रूप का कोई न कोई अंग होती है, अतएव चंचल मन भगवान् पर ही स्थिर हो सकता है, अन्य किसी वस्तु पर नहीं। भगवान् के शरीर के विभिन्न अंगों पर ध्यान केन्द्रित करने की इस विधि से आसुरी ईश्वर-विहीनता (निरीश्वरवादी धारणा) की चुनौती क्रमशः क्षीण होती जाएगी और भगवान् की भक्ति में क्रमिक विकास लाया जा सकता है। चूँकि प्रत्येक वस्तु पूर्ण ब्रह्म का अंश है, अतएव नवदीक्षित जिज्ञासु को धीरे-धीरे ईशोपनिषद् के उन मन्त्रों की अनुभूति होगी, जो यह बताते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है और इस तरह वह भगवान् के शरीर के प्रति अपराध न करने की कला सीख सकेगा। इस भगवद्भाव से ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने वाले मनुष्य के गर्व में ह्रास होगा। इस तरह मनुष्य सबके प्रति सम्मान प्रदर्शित कर सकेगा क्योंकि सारी वस्तुएँ उस परम शरीर के अंश हैं।

स सर्व-धी-वृत्त्यनुभूत-सर्व

आत्मा यथा स्वप्न-जनेक्षितैकः ।

तं सत्यमानन्द-निधिं भजेत

नान्यत्र सज्जेद् यत आत्म-पातः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह ( परम पुरुष ); सर्व-धी-वृत्ति—सभी प्रकार की बुद्धि द्वारा अनुभूति होने की विधि; अनुभूत—सावधान; सर्व—हर एक; आत्मा—परमात्मा; यथा—जिस तरह; स्वप्न-जन—सपना देखनेवाला; ईक्षित—देखा हुआ; एकः—एक और वही; तम्—उसको; सत्यम्—परम सत्य; आनन्द-निधिम्—आनन्द का सागर; भजेत—पूजा करे; न—कभी नहीं; अन्यत्र—अन्यत्र; सज्जेत्—अनुरक्त हो; यतः—जिससे; आत्म-पातः—अपना पतन।

मनुष्य को अपना मन भगवान् में एकाग्र करना चाहिए, क्योंकि वे ही अपने को इतने सारे रूपों में उसी तरह वितरित करते हैं, जिस तरह कि सामान्य मनुष्य स्वप्न में हजारों रूपों की सृष्टि करता है। मनुष्य को अपना मन एकमात्र सर्व आनन्दमय परम सत्य पर एकाग्र करना चाहिए अन्यथा वह पथभ्रष्ट हो जायेगा और अपने हाथों ही अपना पतन कर लेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में महान् गोस्वामी श्रील शुकदेव ने भक्तियोग की ओर संकेत किया है। वे हमें बताना चाहते हैं कि हम आत्म-साक्षात्कार की अनेक शाखाओं की ओर अपना ध्यान न बाँटकर,

भगवान् को ही अनुभूति, पूजा तथा भक्ति का परम लक्ष्य मानकर, उन्हीं में चित्त को एकाग्र करें। ऐसा लगता है, मानो आत्म-साक्षात्कार जीवन-संघर्ष के विरुद्ध नित्य जीवन के लिए युद्ध हो। अतएव बहिरंगा शक्ति की भ्रामक दया से योगी या भक्त को अनेक प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है, जो बड़े से बड़े योद्धा को भवबन्धन में पुनः बाँध दें। योगी को भौतिक उपलब्धियों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो सकती है—यथा *अणिमा* या *लघिमा* की उपलब्धि जिससे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और हल्का से हल्का बन सकता है, या सामान्य अर्थों में, मनुष्य सम्पत्ति तथा स्त्रियों के रूप में भौतिक वर प्राप्त कर सकता है। लेकिन ऐसे आकर्षणों के प्रति आगाह किया जाता है, क्योंकि इस प्रकार के मोहमय आनन्द में पुनः फँसने का अर्थ है आत्म-पतन तथा भौतिक जगत में अधिकाधिक बँधना। इस चेतावनी से मनुष्य को अपनी जागरूक बुद्धि का ही अनुसरण करना चाहिए।

परमेश्वर एक है, किन्तु उनके अंश अनेक हैं, अतएव वे सबके परमात्मा हैं। जब मनुष्य कोई वस्तु देखता है, तो उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि उसने इसे बाद में देखा है और भगवान् उसे पहले से देख रहे हैं। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को पहले भगवान् द्वारा देखे बिना देख नहीं सकता। यही वेदों तथा उपनिषदों का उपदेश है। अतएव हम जो भी देखते या करते हैं, उस देखने या करने के समस्त कृत्यों के कर्ता परमात्मा भगवान् ही हैं। आत्मा तथा परमात्मा के एकसाथ एकत्व तथा भिन्न-भिन्न होने के इस सिद्धान्त को श्री चैतन्य महाप्रभु ने *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन रूप में प्रतिपादित किया है। भगवान् के विराट रूप में प्रत्येक भौतिक वस्तु प्रकट होती है, अतएव भगवान् का यह विराट रूप समस्त चेतन तथा अचेतन का परमात्मा है। किन्तु यही विराट रूप नारायण या विष्णु की भी अभिव्यक्ति है और हम जितना ही आगे बढ़ेंगे, तो अन्ततोगत्वा हम देखेंगे कि भगवान् कृष्ण ही सभी वस्तुओं के अनन्तिम परम आत्मा हैं। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को या तो भगवान् कृष्ण का या उनके पूर्ण अंश नारायण का बिना किसी संकोच के पूजक बनना चाहिए, अन्य किसी का भी नहीं। वैदिक मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि सर्वप्रथम नारायण ने पदार्थ के ऊपर दृष्टिपात किया और इस तरह सृष्टि बनी। सृष्टि के पूर्व न तो ब्रह्मा थे, न शिव थे अन्यो की तो बात ही नहीं उठती। श्रीपाद शंकराचार्य ने इसे निस्सन्देह स्वीकार किया है कि नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं और अन्य सभी इसी सृष्टि के अन्तर्गत

हैं। अतएव सारी सृष्टि एक ही साथ, नारायण से युक्त तथा पृथक् है और इससे भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* दर्शन की पुष्टि होती है। नारायण की चितवन शक्ति से उद्भूत होने के कारण सारी भौतिक सृष्टि उनसे अभिन्न है। किन्तु चूँकि यह उनकी *बहिरंगा शक्ति* (माया) का प्रभाव है और यह अन्तरंगा शक्ति (*आत्म-माया*) से पृथक् है, अतएव सारी भौतिक सृष्टि उनसे पृथक् भी है। इस श्लोक में स्वप्न देखने वाले व्यक्ति का उदाहरण अतीव सुन्दर है। स्वप्न देखनेवाला व्यक्ति अपने स्वप्न में अनेक वस्तुओं की सृष्टि करता रहता है। इस तरह वह स्वप्न का बद्ध दर्शक बन जाता है और उसके परिणामों से भी प्रभावित होता है। यह भौतिक सृष्टि भी भगवान् के स्वप्न जैसी सृष्टि है, किन्तु वे दिव्य परमात्मा होने के कारण, न तो स्वप्नवत् सृष्टि की प्रतिक्रियाओं (बन्धनों) से बँधते हैं, न ही प्रभावित होते हैं। वे सदैव अपने दिव्य पद पर बने रहते हैं, लेकिन वे अनिवार्यतः सब कुछ होते हैं और उनसे विलग कुछ भी नहीं होता। अतएव उनके अंश होने के कारण, मनुष्य को बिना किसी विपथन के उन्हीं पर मन केन्द्रित करना चाहिए अन्यथा मनुष्य धीरे-धीरे भौतिक सृष्टि की शक्तियों का शिकार होता जायेगा। *भगवद्गीता* (९.७) में इस प्रकार से पुष्टि की गई है—

*सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।*

*कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥*

“हे कुन्तीपुत्र! कल्पान्त में प्रत्येक भौतिक वस्तु मेरी प्रकृति में प्रवेश करती है और दूसरे कल्प के प्रारम्भ में मैं अपनी शक्ति से पुनः सृष्टि रचता हूँ।”

किन्तु मानव जीवन तो इस सृष्टि तथा प्रलय के चक्र से बाहर निकलने का एक अवसर है। यह ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति से अपना पिंड छुड़ाकर उनकी अन्तरंगा शक्ति में प्रवेश करता है।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत “ईश अनुभूति का प्रथम सोपान शुभारम्भ” नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*